प्रकाशक
भारतीय ग्रन्थमाला
दारागंज, इलाहाबाद

मुद्रक—
प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स,
३ क्लाइव रोड, इलाहाबाद

निवेदन

आखिर, यह पुस्तक भी हो गयी। पांच वर्ष हुए, मेरा ध्यान सर्वोदय विचारधारा की ओर गया था। अपनी आयु के साठ वर्ष और साहित्यिक जीवन के पैंतीस वर्ष पूरे कर लिये थे। कई वर्ष से स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा था। अपनी जीवन-संध्या का विचार कर साहित्य-कार्य में कुछ नया मोड़ लेने से मन हिचक रहा था। अन्त में सोचा कि शायद सूर्य बादलों से ढका हुआ हो, वास्तविक संध्या होने में काफी देर हो। शुभ काम जब भी शुरू हो जाय, अच्छा है। जागो तभी सवेरा। निदान, मैं सर्वोदय साहित्य देखने लग गया। खूब मन लगा। पीछे जयपुर में, प्राकृतिक चिकित्सालय में रह कर भाई जवाहर लाल जैन से विचार-विनिमय करते हुए 'सर्वोदय अर्थशास्त्र' लिखा, जो सर्वोदय ग्रन्थमाला की पहली पुस्तक के रूप में सन् १९५२ में पाठकों के सामने आयी। पीछे काम जारी रहा। श्री जैन की दो पुस्तकें मिला कर अब तक कुल बारह पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

मेरी पिछली विशेष रचना 'राज व्यवस्था, सर्वोदय दृष्टि से' थी। 'सर्वोदय अर्थशास्त्र' और इस पुस्तक के हो जाने पर मन में कुछ संतोष तो हुआ पर एक बात खटकने लगी। सर्वोदय एक समग्र जीवन-दर्शन है, यदि विवेचन की सुविधा के लिए इसे अलग-अलग भागों में लेना हो तो खासकर तीन विषयों का विचार होना आवश्यक है—अर्थनीति, राजनीति (या लोकनीति), और समाज-नीति। जबकि इनमें से पहले दो विषयों पर सर्वोदय दृष्टि से—जैसा भी बन आया—विचार कर लिया गया तो समाजनीति पर भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है। उसके बिना वह कड़ी अधूरी है। इस प्रकार ऐसी पुस्तक का अभाव खटकने लगा। आखिर, अपने स्वास्थ्य के निर्बल होते हुए

तथा विषय ज्ञान की कमी का अनुभव करते हुए भी इस रचना का काम हाथ में लेने का साहस कर डाला।

समाज-रचना का विषय बहुत विस्तृत है। इसका अर्थव्यवस्था और राजव्यवस्था से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए हमें, अपनी इन विषयों सम्बन्धी पृथक् रचनाएँ होते हुए भी इस पुस्तक में प्रसंगवश उन पर भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत हुआ। इसमें रचना सम्बन्धी विषय अनेक हैं। तथापि यदि सर्वोदय दृष्टि क्या है, यह समझ लिया जाय तो अन्य विषयों पर विचार करने में बहुत सुविधा हो जाती है। इसलिए इस पुस्तक के आरम्भ में इस विषय पर कुछ खुलासा लिखा गया है। वैसे यह पुस्तक अपने महान विषय की भूमिका मात्र समझनी चाहिए। हाँ, पाठकों की रुचि, और हमारे स्वास्थ्य तथा साधनों को देखते हुए यह भी गनीमत है। गांधी, विनोबा, आदि जिन जिन महापुरुषों, विद्वानों और विचारकों की रचनाओं से मैंने इस विषय को समझने और लिखने में सहायता ली है, उन सबका मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। वास्तव में, श्री जगदीश सक्सेना के शब्दों में मेरी यही भावना है—

गीत तुम्हारे, राग तुम्हारा, लिखने का वरदान मुझे है।
पुण्य बनी अनजान साधना
ज्योतिर्मय होगयी कामना
दीप तुम्हारे, स्नेह तुम्हारा, जलने का वरदान मुझे है।
एक-निष्ठ होगयी कल्पना
रग-रग में रम गयी अर्चना
प्राण तुम्हारे, हृदय तुम्हारा, जीने का वरदान मुझे है॥

भगवानदास केला

विषय-सूची

पहला खंड

सर्वोदय दृष्टि

१४—खेती और ग्रामोद्योगों की प्रधानता

तीसरा खंड

व्यक्ति का विकास

१५—व्यक्ति और समाज

चौथा खंड

परिवार, गांव और संसार

२४—गांव सुखी, संसार सुखी

पहला खंड

सर्वोदय दृष्टि

इस छोटी सी जिंदगी में हम कसौटी पर हैं। इस संसार में जो कुछ थोड़े दिन हमें रहना है, उनमें सब की सेवा तथा सब का प्रेम हासिल करने की कोशिश करनी चाहिए। जिन्होंने इस दुनिया में आकर पैसा कमाया लेकिन प्रेम गंवाया, उन्होंने कुछ भी नहीं कमाया। जिन्होंने ज्ञान हासिल किया मगर सब का प्रेम हासिल नहीं किया, उन्होंने कुछ भी हासिल नहीं किया। जिन्होंने शक्ति सम्पादन की, पर सबका प्रेम सम्पादन नहीं किया, उन्होंने कुछ भी सम्पादन नहीं किया। इसलिए भाइयो सब से प्रेम करो और सब का प्रेम हासिल करो, यही सर्वोदय समाज का संदेश है।

—विनोबा

व्यापार का मकसद यह है कि धरती की सब पैदावार को इस तरह से संगठित किया जाय कि सारे मानव समाज की सब जरूरतें पूरी हो सकें। विज्ञान का उद्देश्य यह है कि सब चीजों की सच्ची-सच्ची जानकारी सब में फैल जाय। राजनीति का उद्देश्य यह है कि सब देश न्याय और शान्तिपूर्वक मिलकर प्रेम से रह सकें और सब की बराबर उन्नति हो। इसी तरह धर्म का उद्देश्य यह है कि सब के अन्दर एक सच्चा विश्वास हो।

—जे. इ. कारपेन्टर

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

सर्वोदय व्यक्ति और समाज के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक सब प्रकार के पहलुओं में सर्वांगीण विकास का नाम है।

—डा० राधाकृष्णन

भविष्य की ओर दृष्टि - हम वर्तमान काल में रह रहे हैं, आज की स्थिति, सुख-दुख, हर्ष और शोक हमारे सामने हैं; फिर भी कभी-कभी हम पीछे की बात याद कर लिया करते हैं। कल हम कैसे थे, गत मास में हमें जीवन के क्या-क्या अनुभव हुए, अथवा इससे पहले गत वर्ष या कई वर्ष पहले हम कैसी हालत में थे, उस समय हमें कैसे-कैसे कष्ट भोगने पड़े थे, या हमें कौनसी विशेष सुविधाएँ प्राप्त थीं। भूत-काल के अतिरिक्त भविष्य की ओर भी हमारी निगाह लगी रहती है। अनेक दशाओं में तो भविष्य हमारा ध्यान भूत और वर्तमान से भी अधिक आकर्षित कर लेता है। प्रायः आदमी आज के दिन कई प्रकार के त्याग करने और कष्ट सहने के लिए इस वास्ते तैयार हो जाते हैं कि उनका अगामी कल अच्छा हो। यही नहीं, बहुत से आदमी तीर्थ-यात्रा, दान-पुण्य, व्रत उपवास आदि का कष्ट इस विचार से सहा करते हैं कि उनका अगला जन्म सुखमय हो, उन्हें स्वर्ग-प्राप्ति हो, उनका परलोक सुधर जाय। जो आदमी पुनर्जन्म या परलोक आदि में विश्वास नहीं करते, वे इसी जन्म के आने वाले समय का विचार किया करते हैं।

मनुष्य की आशावादिता—यद्यपि कुछ आदमी ऐसे भी होते हैं। जिनके मन पर वर्तमान कठिनाइयों और कष्टों का बहुत अधिक प्रभाव

पड़ जाता है और जो अपने भावी जीवन के प्रति बहुत ही निराशावादी हो जाते हैं, अधिकतर आदमी भविष्य के सम्बन्ध में आशावादी ही रहते हैं। उन्हें भरोसा रहता है कि हमारे इस समय जो भी अभाव या कष्ट हों, ये दिन बीत जायँगे, फिर अच्छे दिन आयेंगे और हम सुखमय जीवन बितायेंगे। रोगी आदमी को रोग-मुक्त होने का, और अभावग्रस्त को खुशहाल होने का विश्वास रहता है। ऐसा न हो तो लोगों को यह संसार-यात्रा दूभर हो जाय। अस्तु, संसार आशा के सहारे ही टिका है।

सामूहिक विषयों का काल्पनिक चित्र—आदमी व्यक्तिगत विषयों में ही नहीं, सामूहिक विषयों में भी प्रायः आशावादी रहता है। हम भावी समाज के विषय में बहुधा अपने मन में सुन्दर चित्र बनाया करते हैं। अकसर आदमी यह अनुमान लगाया करते हैं कि पचास वर्ष बाद जीवन के विविध क्षेत्रों में इतनी इतनी प्रगति हो जायगी, और सौ वर्ष के बाद संसार का ऐसा कायाकल्प हो जायगा। कुछ आदमियों के सामने समाज का आर्थिक पहलू मुख्य होता है, और कुछ के सामने राजनैतिक, धार्मिक या सांस्कृतिक आदि। कुछ लेखकों या कवियों आदि ने समाज के सभी अंगों के नये रूप की कल्पना की है। और यथा-संभव उसका पूरा चित्र उपस्थित करने का प्रयास किया है।

ऐसी रचनाओं का कभी-कभी बड़ा मजाक भी उड़ाया गया है। जो लोग इन्हें बुद्धि-ग्राह्य नहीं मानते, उन्होंने इनको काल्पनिक सुखवाद कोरी कल्पना, शेखचिल्ली का स्वप्न, या हवाई महल आदि कहा है। उनका आशय यह होता है कि ये कभी मूर्त-रूप धारण न करेंगी। बात यह है कि कुछ कल्पनाओं के अमल में आने में सैकड़ों वर्ष भी लग सकते हैं, और साधारण आदमी आमूल परिवर्तनों की कल्पना नहीं करते या नहीं कर सकते। हमारे सामने किसी चीज का जो रूप मौजूद होता है, उससे थोड़े से बदले हुए रूप का विचार हम आसानी से कर सकते हैं। एकदम उसके बहुत ही विशाल

या बिलकुल बदले हुए रूप की बात समझ से बाहर की होती है। तथापि कल्पनाएँ करने वाले अपनी-अपनी कल्पना संसार के सामने समय-समय पर रखते रहे हैं और बहुत से काल्पनिक चित्रों में पीछे यथेष्ट तत्व मालूम हुआ है; उन्होंने आगे-पीछे, देर-सवेर मूर्त-रूप धारण किया है।

हमारी अपनी बात; भावी संसार का चित्र—इन पंक्तियों का लेखक भी कुछ न कुछ स्वप्नदर्शी रहा है। हमने समय-समय पर समाज की विविध बातों के भावी रूप पर कुछ फुटकर विचार प्रकट किया है। अब से ग्यारह वर्ष पूर्व हमने भावी संसार के सम्बन्ध में कुछ इकट्ठा प्रकाश डाला था। (यह 'भावी नागरिकों से' पुस्तक के अंतिम अध्याय के रूप में प्रकाशित हुआ था), इसका मुख्य भाग यह है—

'भावी संसार में हरेक आदमी तन्दुरुस्त, हृष्ट-पुष्ट, स्वतंत्र रूप से विचार करने वाला, स्वाधीन जीवन बिताने वाला, अन्ध-विश्वासों से दूर, श्रम या मेहनत का आदर-मान करने वाला, स्वावलम्बी, निडर और दूसरों की सेवा और सहायता में आनन्द लेने वाला होगा।

'भावी समाज किसी भी धर्म-पुस्तक के सब वाक्यों को आँख मीच कर मानने के लिए मजबूर न होगा। भावी संसार में ईश्वर या परमात्मा कुछ खास-खास इमारतों—मंदिर, मसजिद या गिरजा आदि—में न माना जायगा। उसके दर्शन हर जगह, हरेक आदमी में होंगे। प्रत्येक नागरिक का आदर्श-वाक्य यह होगा—'यह दुनिया मेरा देश है और नेकी करना मेरा धर्म है।'

'भावी संसार में अमीरी और गरीबी का, पूँजीपति और मजदूर का, जमींदार और किसान का भेदभाव सहन न होगा। सब आदमियों में समानता और भाईचारा होगा। न तो किसी आदमी को अपने भोजन-वस्त्र, रहने की जगह, शिक्षा और स्वास्थ्य आदि साधनों की

कमी रहेगी और न कोई इनका दुरुपयोग या फजूलखर्च ही करेगा। पैदावार का उद्देश्य जनता की जरूरतें पूरी करना होगा, न कि मुनाफा कमाना। इसलिए नशे, विलासिता और ऐयाशी की चीज़ें नहीं बनायी जायँगी। हिंसक युद्ध-सामग्री की भी जरूरत न रहेगी। वितरण की विषमता दूर हो जायगी। सर्वसाधारण को उपयोगी चीजें देना, उनकी सेवा और सहायता करना, अर्थनीति का ध्येय होगा।

'भावी संसार में विज्ञान के आविष्कारों और यन्त्रों पर मुट्ठी भर धनवानों या सत्ताधारियों का अधिकार न होगा। विज्ञान का प्रकाश हर एक देश के जनसाधारण तक पहुँचेगा। वह लोगों के जीवन-निर्वाह, स्वास्थ्य और चिकित्सा का साधन होगा, उससे सर्वसाधारण के अभाव दूर होंगे। इसके अलावा आदमी केवल भौतिक विज्ञान में न लगा रहेगा, वह मानसिक और आध्यात्मिक विज्ञान की ओर भी काफी ध्यान देगा। और, इस प्रकार अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हुए, आवश्यकताओं को जहाँ तक बने कम रखेगा। उसका आदर्श 'सादा जीवन और उच्च विचार' होगा।'

समाज की कसौटी; सर्वोदय—इस तरह की कुछ और भी बातें इस पुस्तक में बतायी गयी थीं। पर मालूम होता है कि ऐसे वक्तव्य का चाहे जितना विस्तार या खुलासा किया जाय, इस विषय का एक अध्याय नहीं, पूरी पुस्तक ही क्यों न लिखी जाय—बात पूरी नहीं होती। असल में समाज में इतनी बातों का समावेश होता है कि सब के आदर्शरूप का वर्णन नहीं हो सकता, कुछ-न-कुछ छूट ही जाती हैं। इसलिए कोई मुख्य लक्षण या कसौटी बताना अच्छा है, जिससे यह जाँच हो सके कि समाज की कोई बात ठीक है या नहीं। सामाजिक विषयों की कसौटी निर्धारित करने के लिए अब हमें एक निश्चित शब्द मिल गया है, वह है 'सर्वोदय', जिसका अर्थ है, सब का भला। अब हम सामाजिक जीवन के विविध पहलुओं या अंगों की इसके आधार पर जाँच कर सकते हैं।

सर्वोदय की भावना—सर्वोदय भावना कुछ नयी नहीं है और न यह भारत तक ही परिमित रही है। चिरकाल से विविध देशों में इसके अनुसार विचार और कार्य करने वाले रहे हैं—ब्राह्मण शूद्र का, एशियाई यूरोपियन का, हिन्दू मुसलमान ईसाई का, या अन्य किसी प्रकार का, विषमता या भेदभाव-सूचक विचार न हो। प्रत्येक व्यक्ति मनुष्य है, इसलिए वह समानता सम्मान और प्रेम का अधिकारी हो। किसी का शोषण न हो। किसी पर हिंसक शासन न हो। मनुष्य मनुष्य में अन्तर न हो। कोई जाति, कोई वर्ण, कोई वर्ग कोई समूह निम्न कोटि का न माना जाय। सारा समाज एकरस या समरस हो, संसार भर में विशाल भाईचारा हो।

सर्वोदय भावना का प्रचार—आधुनिक काल में इसे व्यापक रूप देने वाले और इसे सार्वजनिक व्यवहार में लाने का उपाय सुझाने वाले गांधी जी हैं। अब से पहले सर्वसाधाधारण ने उसे कुछ साधु संतों का ही काम समझा था। सांसारिक मनुष्यों के लिए यह एक कल्पित वस्तु या आदर्श मात्र माना जाता था, जो दो घड़ी दिल बहलाने भर का काम देने के अतिरिक्त और किसी उपयोग का नहीं। पर अब यह इतनी उपेक्षा का विषय नहीं रहा। क्रमशः अधिकाधिक आदमी इसके विषय में चिन्तन और मनन करने लगे हैं। यद्यपि बहुत से इसकी केवल खंडनात्मक आलोचना ही करते हैं, धीरे-धीरे ऐसे सज्जनों की संख्या बढ़ती जाती है, जो इसकी ब्योरेवार बातों में जाना और उनपर यथा-सम्भव अमल करना आवश्यक समझते हैं।

विशेष वक्तव्य—इसमें संदेह नहीं कि बहुत सी बातें आदर्श-रूप ही होती हैं, उनके पूर्णतया चरितार्थ होने में पीढ़ियों या शायद सदियों का भी समय लग जाता है और यह भी संभावना रहती है कि कुछ बातें कुछ दूसरा ही रूप धारण करलें, तथापि जबकि वे लोकहितकारी हों तो उनकी प्राप्ति का प्रयत्न करना, उनकी दिशा में बढ़ते रहना

प्रत्येक विवेकशील मनुष्य का कर्त्तव्य है। सर्वोदय समाज में लोगों की मान्यताएं कैसी होंगी, उस समाज की रचना में किन-किन अथवा किस प्रकार के साधनों का उपयोग होगा—इन बातों का आगे विचार किया जायगा।

दूसरा अध्याय

सब के भले में हमारा भी भला

एक के भले में सब का भला ही है। किसी एक के हित के विरुद्ध दूसरे का हित हो नहीं सकता। किसी एक जमात कौम, वर्ग या देश के हित के विरुद्ध भी दूसरी जमात, कौम वर्ग या देश का हित नहीं हो सकता। मैं अगर बुद्धिमान हूँ, मेरी सेहत अगर सुधरती है तो उससे आपका भला ही होने वाला है। —विनोबा

मेरा भला, मेरी असली भला, मेरा सच्चा भला इसी बात में है कि मेरा मन सदा ऐसी चाहें चाहा करे और ऐसी राहें गहा करे, जो शुभ हों, पवित्र हों, इसके फलस्वरूप सुख-दायक हों। मेरी यही कामना है, और मेरा ऐसा ही यत्न होगा कि मेरी मन मुझे समाज-हित के कार्यों में सदा प्रेरित करता रहे। —विश्वबन्धु

अपना हित और दूसरों का हित—कितने ही आदमी सोचते हैं कि हमारा हित होना चाहिए; अगर उसके कारण दूसरों का अहित होता हो तो हो, उसकी हम क्यों चिन्ता करें। दूसरे प्रकार के आद-मियों का मत होता है कि हमारा भला हो यह तो हम चाहते हैं, पर अपना ऐसा भला नहीं चाहते, जिससे दूसरों का अहित हो। यदि कोई बात ऐसी है जिससे चाहे हमारा भला होता है, पर उससे दूसरों का बुरा होता है तो हम उसे न करेंगे, वह हमें स्वीकार न होगी। तीसरे प्रकार के आदमियों का विचार यह रहता है कि हम सबका भला चाहते हैं, पर दूसरों के हित की बात को हम प्रमुख मानते हैं। यहाँ तक कि यदि हमारे करने की किसी बात से दूसरों का हित होना

है तो चाहे उससे हमारा नुकसान ही हो, उसे करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

हमारा वास्तविक हित सर्वोदय भावना से ही होगा—ऊपर बताये हुए तीन प्रकार के आदमियों में तीसरे प्रकार के आदमी प्रायः बहुत कम होते हैं। अन्य लोग उनकी प्रशंसा करते हैं पर उनका अनुकरण बहुत नहीं होता। अस्तु, साधारणतया समाज में अधिकता पहले और दूसरे प्रकार के आदमियों की रहती है। इनमें से पहले प्रकार के आदमी समाज के लिए बहुत अनिष्टकारी होते हैं। ये स्वार्थी कहलाते हैं। इनके अनीतिमूलक व्यवहार से दूसरों का बुरा होता है, और उनका बुरा न भी हो तो उनके हित की उपेक्षा तो होती ही है। ऐसी भावना वाले आदमी अपने आपको चाहे जितना चतुर और व्यवहार-कुशल समझें, ये वास्तव में अपना हित करने वाले नहीं होते। सृष्टि की रचना ही इस प्रकार की है कि समाज के आदमियों के हित जुदा-जुदा नहीं होते। एक के अहित से दूसरे का हित नहीं होता। हमारे सुखी रहने के लिए जरूरी शर्त यह है कि हम दूसरों के हित का ध्यान रखें। हमारी अर्थव्यवस्था नीति-मूलक या या मानवता-युक्त होगी, तभी हमारा कल्याण होगा। परिवार के सब सदस्यों का सुख-दुख मिला जुला होता है, समाज में भी हमें केवल अपने सुख की कल्पना करना और दूसरोंके सुख की अवहेलना करना अशोभनीय ही नहीं, विनाशकारी है। हमारी भावना सर्वोदय की रहनी चाहिए।

मूल आधार; (१) सादगी या आवश्यकताओं का नियंत्रण—सर्वोदय भावना को अमल में लाने के लिए खास तौर से तीन बातें आवश्यक हैं—सादगी, अपरिग्रह और शरीर-श्रम। पहले सादगी का विचार करें। आजकल सभ्य जीवन का आदर्श यह समझा जाता है कि हम अधिक से अधिक चीजों का उपयोग करते रहें, हमारी

आवश्यकताएँ नित्य बढ़ती रहें और हम उनकी पूर्ति के लिए तरह-तरह के नये-नये प्रयत्न करते रहें। हमारी ये आवश्यकताएँ भौतिक इच्छाओं को पूरी करने, शरीर को सुख पहुँचाने और इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए होती हैं। ये जरूरतें निरन्तर बढ़ती रहती हैं। हमें इनको पूरी करने से ही छुट्टी नहीं मिलती; फिर हम दूसरों के अभावों और कष्टों के लिए क्या विचार कर सकते हैं! कृत्रिम आवश्यकताएँ हमें मानव जीवन की असलियत से दूर ले जाती हैं। इनसे हमारी निजी, पारिवारिक तथा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था बिगड़ती है। सर्वोदय भावना चाहती है कि हम अपनी भौतिक आवश्यकताओं पर नियंत्रण करें, इच्छाओं पर प्रतिबन्ध लगावें और फैशन, विलासिता तथा बाहरी आडम्बर का मोह छोड़कर सादगी का जीवन बितावें। सादगी का अर्थ है कि बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर ध्यान दें और उन्हीं पदार्थों का सेवन करें, जो जीवन-रक्षक हों या हमारे स्वास्थ्य और कार्य-कुशलता को बढ़ाने में सहायक हों। इस प्रकार हम समय और शक्ति के उपयोग में मितव्ययिता करके उन्हें लोकहित में लगाएँ, और आत्मिक सुख प्राप्त करें।

(२) अपरिग्रह—अपरिग्रह का अर्थ है, वस्तुओं का अनावश्यक संग्रह न करना, अपनी जरूरतों के अनुसार ही रखना। अच्छा, हमारी जरूरतों के परिमाण का निश्चय कैसे हो? मोटी-मोटी बातों में मतभेद की गुंजाइश नहीं है। भोजन की बात लें। थोड़ा-बहुत अन्तर होते हुए भी कोई आदमी दूसरों से सौ-पचास गुना नहीं खा सकता। मनुष्य की कपड़े की आवश्यकता भी परिमित ही होती है। किसी को दर्जनों जोड़ी कपड़ों की क्या जरूरत है, जो अलमारियों या संदूकों में रखे रहते हैं, या इधर-उधर बिखरे पड़े रहते हैं। मकान की बात सोचिए। किसी आदमी को कई-कई जुदा-जुदा मकानों की, या दर्जनों कमरों वाले मकान की क्या जरूरत है, जबकि उसके असंख्य भाई बहनों के पास

मामूली सी कुटि या झोपड़ी का भी स्थान न हो। हम बहुत अधिक वस्तुएँ रखते हैं, इससे हमें उनको संभालने की फिक्र करनी पड़ती है, और हमारे दूसरे भाइयों को उन वस्तुओं के न मिलने से कष्ट होता है। हम अपरिग्रह की भावना अपनावें तो हमारी बहुत परेशानी दूर हो तथा दूसरों के अभावों की पूर्ति में भी सहायता मिले।

(३) शरीर-श्रम—इस समय बहुत से शिक्षित और सभ्य कहे जाने वाले आदमियों की विचार-धारा ऐसी रहती है कि शरीर-श्रम कम से कम किया जाय। उत्पादन के लिए ऐसे उपाय निकाले जायँ, ऐसी मशीनों आदि का उपयोग किया जाय, जिनसे उन्हें काफी आय हो और दूसरे आदमियोंको अपेक्षाकृत बहुत कम मिले। 'बुद्धिजीवी' सोचता है कि श्रम बचाने वाले उपायों को काम में लाने से उसे खूब अवकाश मिलेगा और इस अवकाश का उपयोग वह अपने मनोरंजन आदि में कर सकेगा। आजकल शरीर-श्रम से बचने की भावना इतनी फैली हुई है कि समाज में अनेक आदमी डाक्टर, वकील, महन्त आदि कोई उत्पादक कार्य न करते हुए भी बहुत धन कमाते हैं, और उस धन से मान-प्रतिष्ठा पाते और मौज उड़ाते हैं। इससे समाज में ऊंच नीच की घातक धारणा फैलती है। इसलिए शरीरश्रम का, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में, एक विशेष स्थान रहना चाहिए।

स्मरण रहे, कि डाक्टर या वकील आदि जो योग्यता प्राप्त करते हैं, उसके लिए वे समाज के ऋणी हैं। उनकी योग्यता का समाज को यथेष्ट लाभ मिलना चाहिए, असल में उस योग्यता पर समाज का अधिकार है—यह अधिकार आज की स्थिति में कानूनी नहीं है, पर नैतिक तो है ही। अपने आपको बुद्धिमान कहने वाले सोचें कि क्या उनको केवल कानूनी अधिकार ही मान्य होगा! क्या वे नैतिक अधिकार को और भी अधिक महत्व न देंगे?

———

तीसरा अध्याय

शिक्षा, जीवनोपयोगी

दिल्ली में बच्चे जन्म लेते हैं, आपके इस गाँव में भी जन्म लेते हैं। दिल्ली में वे जवान होते हैं, इस गाँव में भी वे जवान होते हैं और दिल्ली की तरह यहाँ भी लोग बूढ़े होते हैं और मरते हैं। लेकिन तालीम का पूरा इन्तजाम दिल्ली में है, गाँव में नहीं। हर गाँव में जब पूरी जिन्दगी का इन्तजाम होता है तो पूरी तालीम का भी होना चाहिए।

—विनोबा

इस बात की सख्त जरूरत है कि आजकल की इस तालीम की जगह एक अधिक कुदरती, अधिक काम की और अधिक सस्ती तालीम बच्चों को दी जाय, जो हर लड़के और लड़की को उसके लिए सबसे अच्छे और सबसे दिल-पसन्द काम के काबिल बना दे, वह तालीम जो बच्चों को जीवन के ठीक-ठीक आदर्श बताये और हमारी सारी मानव सभ्यता के इखलाकी और रूहानी वातावरण को बदल दे, इससे पहले कि हम बरबाद हों।

—डा० भगवानदास

अब हम यह विचार करेंगे कि जैसा समाज हम बनाना चाहते हैं, उसमें विविध विषयों के सम्बन्ध में सर्वोदय-दृष्टि क्या है। इन बातों का अभी से ध्यान रखना तथा उसके अनुसार व्यवहार करना आवश्यक है। पहले शिक्षा का विषय लें।

आधुनिक विश्वविद्यालय—कुछ समय हुआ, दो यूनिवर्सिटी प्रोफेसर मुझसे मिलने आये। सर्वोदय अर्थशास्त्र की बात उनके लिए कुछ कौतूहलजनक थी। उन्होंने कहा कि आपकी सर्वोदय व्यवस्था में विश्वविद्यालय का तो कोई स्थान ही नहीं होगा। मैंने कहा कि सर्वोदय को विश्वविद्यालयों से कोई सैद्धांतिक विरोध नहीं है, परन्तु आप सोचें कि जिस ढंग से ये चल रहे हैं, जैसी शिक्षा का ये प्रचार कर रहे हैं। वह समाज का क्या, अथवा कहाँ तक हित-साधन करती है। उन मित्रों ने मेरे दृष्टिकोण को समझते हुए और कुछ स्वीकार करते हुए कहा कि वर्तमान शिक्षापद्धति बहुत दूषित है—यह तो ठीक है, पर आखिर उच्च शिक्षा की व्यवस्था तो रहनी ही चाहिए।

उच्च-शिक्षा-पद्धति के दोष—उन मित्रों से बातचीत करते समय मेरे सामने ये बातें थी—

(१) यह शिक्षापद्धति बेहद खर्चीली है। साधारण हैसियत के आदमियों की तो बात ही छोड़ दो, मध्यश्रेणी के अभिभावक को भी एक विद्यार्थी यूनिवर्सिटी में पढ़ाना बहुत भार प्रतीत होता है। इसके लिए उसे अपने रोजमर्रा के जरूरी खर्च में कतरब्योंत करना होता है और वह किसी तरह, बड़ी मुश्किल से, विद्यार्थी की जरूरतें पूरी कर पाता है। ऐसा करते समय उसके मन में भविष्य की सुन्दर कल्पनाएँ या आशाएँ होती हैं, जिन्हें प्रायः कार्यरूप में परिणत होते नहीं पाया जाता। फिर जिस अभिभावक को यूनिवर्सिटी में पढ़ने वाले दो विद्यार्थियों का खर्च चलाना हो और खास कर जब वे दो विद्यार्थी होस्टल में रहने वाले हों तो उसकी मनोदशा का क्या वर्णन किया जाय।

(२) विश्वविद्यालय के, और खासकर होस्टल में रहने वाले विद्यार्थी शौकीन या फैशन-पसन्द हो जाते हैं। वे 'ऊँचे स्तर' का रहन-सहन रखते हैं और अपने अभिभावकों तथा अन्य देशबंधुओं की स्थिति को भूले रहते हैं। पढ़ाई पूरी करने पर वे प्रायः नौकरी के ही

योग्य रहते हैं और केवल लिखा-पढ़ी का काम चाहते हैं। वह न मिलने पर उनका जीवन बहुत निराशा और दुख में बीतता है। कोई धंधा मिल जाने पर भी आवश्यकताएँ बहुत अधिक होने से असन्तोष उनका पीछा नहीं छोड़ता।

(३) हमारा शिक्षित कहा जाने वाला वर्ग लोक-संपर्क से दूर रहता है। उनकी एक अलग ही जाति सी बन गयी है, जो गाँव के जीवन को बहुत तुच्छ निगाह से देखती है, और शहरों के विलासितामय वातावरण में ही रहना चाहती है।

(४) विश्वविद्यालय के शिक्षक प्रायः साल भर में कुल मिलाकर लगभग ६ मास काम करते हैं, फिर अधिकांश शिक्षकों के काम के घंटे सप्ताह में बीस पच्चीस से अधिक नहीं होते। तो भी इनकी योग्यता से नागरिक जीवन को कुछ लाभ नहीं मिलता। इनसे उच्च सांस्कृतिक विचारों के प्रचार की आशा पूरी नहीं होती।

(५) अधिकतर शिक्षक अपने अवकाश के समय को, जो आवश्यकता से कहीं अधिक होता है, अपने निजी स्वार्थ साधन में ही लगाते हैं। किस प्रकार किसी शिक्षा-समिति के सदस्य होकर या किसी विषय के परीक्षक होकर अपनी आमदनी बढ़ाएँ, यही उनकी चिन्ता का विषय रहता है। कितने ही तो रीडरों या पाठ्य-पुस्तकों के चक्कर में पड़े रहते हैं। मतलब यह कि ये सब काम आमदनी का ही चाहते हैं, सेवा का नहीं।

(६) विद्यार्थियों के सामने ऐसे गुरुजनों का उदाहरण रहने से उनके चरित्र-निर्माण की, अनुशासन की, लोक-सेवा की भावनाओं की, दीन-दुखी भाइयों से सहानुभूति और सहयोग की क्या आशा की जाय! वे श्रमजीवियों की रक्षा पर लच्छेदार भाषा में लम्बा चौड़ा निबंध लिख सकते हैं, पर कभी उनके साथ समरस होने की कल्पना नहीं कर

सकते। शरीर-श्रम की वे प्रशंसा कर सकते हैं, पर उसे जीवन में स्थान देना अपना दुर्भाग्य ही समझेंगे।

(७) विश्वविद्यालय केवल बौद्धिक विकास की ओर ध्यान देकर जीवन को एकांगी और एकपक्षीय बनाते हैं। ये राष्ट्र-शरीर में पक्षाघात का रोग फैलाते हैं।

माध्यमिक और प्राथमिक शिक्षा—ऊपर उच्च शिक्षा की बात कही गयी है। दोष तो सारी ही शिक्षा में है। प्राथमिक शिक्षा में बालकों के शिक्षकों को खास-खास विषयों का निर्धारित ज्ञान होना पर्याप्त समझा जाता है; स्वयं बालकों के सम्बन्ध में उन्हें कितना ज्ञान है, इसका विचार नहीं किया जाता। ये शिक्षक बालकों के स्वभाव रुचि, विचार, तथा मन पर होने वाली क्रिया-प्रक्रिया के अनुभवी नहीं होते और जैसे-तैसे कुछ बातें बालकों के मन में ठूस देने और कुछ लिखना-पढ़ना सिखा देने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं। इस शिक्षा का विद्यार्थियों के जीवन से कुछ मेल नहीं बैठता, वे इसे जल्दी ही भूल जाते हैं।

माध्यमिक शिक्षा पाने वाले विद्यार्थी किसी उत्पादक शरीर-श्रम का अभ्यास नहीं करते, वे उसकी इज्जत या प्रेम नहीं करते। परिणाम यह होता है कि उनका विद्यार्थी-जीवन समाप्त होने पर उनके सामने आजीविका प्राप्त करने की भयंकर समस्या उपस्थित हो जाती है और वे उसे हल करने में असमर्थ रहते हैं। खेती या उद्योग-धंधा करने लिए उनकी योग्यता नहीं होती; गाँव का जीवन उन्हें अरुचिकर लगता है। वे नौकरी की खोज में परेशान रहते हैं, स्वावलम्बी और स्वाभिमानी जीवन नहीं बिता सकते। नागरिकों के अन्य कर्तव्यों के पालन करने की उनसे क्या आशा की जाय!

सर्वोदय दृष्टि से विचार; शिक्षा सबको सुलभ—वर्तमान अवस्था में गरीब लड़का, चाहे वह बहुत तेज और बुद्धिमान हो,

ऊँची शिक्षा पाने से वंचित रहता हैं, इसके विपरीत, धनवान लड़का बहुत बुद्धू होने पर भी ऊँची शिक्षा का प्रमाणपत्र पाने में सफल हो जाता है। इसलिए विद्या का आधार पैसा न होना चाहिए। शिक्षा का द्वार सब के लिए समान रूप से खुला रहना चाहिए; उसमें धनी-निर्धन का भेदभाव न होकर सबके लिए समान व्यवस्था होनी चाहिए। हम प्राचीन काल में कृष्ण और सुदामा के एक-साथ विद्याध्ययन करने की बात याद रखें और उस परम्परा को बनाये रखें।

गाँव में पूरी जीवन-शिक्षा—इस समय गाँव में प्रारम्भिक पाठशाला ही होती है (कुछ गाँवों में तो वह भी नहीं), उसकी पढ़ाई पूरी करके विद्यार्थी पास के कस्बे में जाता है, उसके बाद आगे पढ़ने के लिए किसी शहर में, और विश्वविद्यालय की पढ़ाई के लिए तो राज्य के किसी केन्द्रीय नगर में जाना होता है। सोचने की बात है, आदमी रहते गांव में हैं, वहाँ ही उनकी संतान का जन्म होता है, बालक बड़े होते हैं, विवाह शादी होती है, वहाँ ही वे कमाते-खाते हैं, बीमार भी पड़ते हैं—ये सब काम गाँव में होते हैं। इस प्रकार जीवन गाँव में व्यतीत होता है तो जीवन के उपयोगी शिक्षा भी गाँव में ही मिलनी चाहिए। गाँव में प्रकृति की खुली पुस्तक है, लोक जीवन है, लोक भाषा है, भूगोल है, इतिहास है, अर्थ-व्यवहार, गणित और नागरिकता सब विषयों की सामग्री मौजूद है। इसका वहाँ यथेष्ट उपयोग होना चाहिए। हमारी विद्यापीठें गाँव-गाँव में हों, हमारे विद्यालय खेतों और उद्योग-गृहों में हों, हमारे शिक्षित बालक सर्वप्रथम किसान और औद्योगिक हों, हमारे शिक्षक भी खेतिहर और औद्योगिक हों, प्रत्येक ग्राम-क्षेत्र की शिक्षा-संस्थाएँ स्थानीय परिस्थिति को लक्ष्य में रखते हुए जीवन की अधिक से अधिक आवश्यकताएँ पूरी करने वाली और समस्याओं को हल करने वाली हों।

विशेष वक्तव्य—इस प्रकार हमारी शिक्षा-पद्धति में मुख्य बातें ये हों—

१—शिक्षा का आधार या केन्द्र खेती या किसी प्रकार की दस्तकारी हो, और सब विषय उसके ही सहारे सिखाये जायँ।

२—खेती तथा दस्तकारी का चुनाव स्थानीय परिस्थिति को ध्यान में रखकर किया जाय। जनता की प्राथमिक आवश्यकताओं—भोजन और वस्त्र आदि की पूर्ति को प्राथमिकता दी जाय। शिक्षा जीवन से मेल खाने वाली हो।

३—विद्यार्थी शरीर-श्रम का आदर करने वाले ही नहीं, उसका अभ्यास करने वाले हों।

४—विद्यार्थी देश की साधारण जनता के संपर्क में रहें, ग्रामीण भाइयों से अपने को अलग वर्ग का न मानें।

५—शिक्षक अपने कार्य की पवित्रता और उत्तरदायित्व का अनुभव करें। उन्हें भावी राष्ट्र का सुन्दर निर्माण करने में भरसक भाग लेना है। शिक्षा-कार्य उनके लिए केवल कुछ आय-प्राप्ति का नहीं, लोक-कल्याण का साधन है।

६—शिक्षा का उद्देश्य सुयोग्य, स्वावलम्बी, लोकसेवी, उदार, मानवता-प्रेमी नागरिक तैयार करना है जो समाज, देश और संसार के लिए शोभास्पद हों। उससे मनुष्य का सर्वांगीण—शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक—विकास हो।

७—शिक्षा किसी खास विषय के ज्ञान में ही सीमित न मानी जाय, हमें जीवन की शिक्षा चाहिए। विद्यार्थियों में ऐसे संस्कार डाले जायँ कि वे अपने जीवन में जो भी काम करें उसे आनन्दपूर्वक मन लगाकर करें। उन्हें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सुख-शान्ति और विकास का अनुभव हो।

चौथा अध्याय

स्वास्थ्य और चिकित्सा, सब को सुलभ

डाक्टर, वैद्य, हकीम तीनों कमाने का पेशा करते हैं, दूसरों के भले के लिए वे चिकित्सा-कार्य नहीं सीखते। यह दूसरी बात है कि इनमें कोई-कोई परोपकारी भी होते हैं। केवल एक कुदरती इलाज ही है कि जिसका जन्म परोपकार में हुआ है।

—गाँधी जी

वही चिकित्सा सच्ची है, जो प्रकृति स्वयं करती है। डाक्टरों की औषधियाँ केवल लक्षणों को रोकने का प्रयत्न करती हैं, परन्तु रोग को अच्छा नहीं करतीं।

शोपनहार

सर्वोदय की जो जीवन-योजना है, उसमें कुदरती इलाज के लिए एक विशेष स्थान है।

—विनोबा

स्वास्थ्य की दृष्टि से आदमी स्वावलम्बी बना है—इस सृष्टि में मनुष्य को छोड़कर अन्य सब प्राणी प्रायः स्वस्थ ही रहते हैं। कोई पशु-पक्षी बीमार कम ही नजर आता है। जिन्हें हम बीमार पाते हैं उनके बारे में विचार करें तो वे ऐसे ही होते हैं, जो प्राकृतिक जीवन छोड़कर, मनुष्य के सम्पर्क में आने के कारण अस्वाभाविक आहार-विहार करने लग गये हैं। वास्तव में प्रकृति की योजना ऐसी है कि हरेक प्राणी स्वावलम्बी है। उसे जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह सृष्टि में मौजूद है, प्राणी थोड़े परिश्रम से उसका उपयोग कर

सकता है। इस प्रकार आदमी जरा समझ से काम ले, और सब आपस में सहयोग भाव रखें तो जीवन-यात्रा में कोई बाधा न हो। उसके लिए हवा, पानी, मिट्टी, प्रकाश किसी चीज की कमी नहीं। अन्य बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति वह सहज ही कर सकता है। इस प्रकार उसमें स्वस्थ रहने की समुचित क्षमता है, अर्थात् प्रकृति की ओर से स्वास्थ्य सबको सुलभ है।

आदमी बीमार क्यों पड़ते हैं? अप्राकृतिक जीवन—जब मनुष्य को स्वस्थ रहने की सब सुविधाएँ प्राप्त हैं तो फिर वह बीमार क्यों पड़ता है। आजकल तो अधिकांश आदमी किसी न किसी बीमारी की शिकायत करते ही मिलते हैं। बात यह है कि आदमी धीरे-धीरे प्रकृति से दूर होता गया है, उसका जीवन प्राकृतिक न होकर बहुत कुछ कृत्रिम हो गया है। वह शुद्ध ताजी हवा का और धूप का यथेष्ट सेवन नहीं करता। भोजन तो वह तरह-तरह का तैयार करके खाता है, जिससे उसके गुण नष्ट या कम हो जाते हैं। कपड़ा, जहाँ तक आदमी का वश चलता है, आवश्यकता से अधिक पहनता है, जिससे समाज में अच्छा दीखे। इस प्रकार आदमी सभ्यता में जितना आगे बढ़ता जा रहा है, उतना ही वह प्रकृति से विमुख होता जाता है और फलस्वरूप बीमारियों का अधिकाधिक शिकार बनता जाता है। सब जानते हैं कि जंगलों में रहने वाले आदमी (आदिवासी आदि) बहुत स्वस्थ रहते हैं और गाँव वाले शहर वालों की अपेक्षा स्वस्थ होते हैं। 'सभ्यता' में आगे बढ़ना बीमारियों को आमंत्रित करना है।

शोषण और दरिद्रता—अच्छा, गाँवों में बीमारियाँ क्यों बढ़ रही हैं? गाँवों में बीमारियों के बढ़ने का एक कारण तो यही है कि वे शहर वालों की देखादेखी सभ्य दिखायी देने का प्रयत्न करते हैं, चाय, बीड़ी, पान, तमाखू आदि का सेवन अधिक करते जाते हैं। दूसरी बात यह है कि शहरों द्वारा गाँवों का शोषण होता है, और

गाँवों के महाजन या जमींदार आदि भी अपने दूसरे भाइयों का शोषण करते रहते हैं। इससे गाँवों के अधिकांश आदमी बहुत गरीबी का जीवन बिताते हैं। वे प्रायः बहुत घटिया या खराब अन्न खाते हैं, और अनेक बार उन्हें वह भी काफी परिमाण में नहीं मिलता तो सकरकन्द, प्याज, महुआ, ककड़ी आदि तथा वृक्षों की छाल और पत्ते खाकर अपनी भूख शान्त करने को मजबूर होते हैं। कितने ही आदमियों को काफी समय आधा-भूखा रहना होता है; कपड़ा तो सर्दी में भी उनके शरीर पर नहीं के बराबर ही रहता है। ऐसे आदमी तरह-तरह की बीमारियों के शिकार हों, यह स्वाभाविक ही है।

शोषितों के साथ शोषक भी प्रायः बीमार रहते हैं। इसका कारण यह है कि वे मुफ्त की, बिना मेहनत की रोटी खाते हैं। उनका दिन का समय बैठे-बैठे गुजरता है। गाँव में आदमी मनोरंजन के लिए ताश या शतरंज खेलते रहते हैं, और शहरों में सिनेमा आदि देखा करते हैं। इस प्रकार श्रम न करने से उनकी पाचन-शक्ति कम हो जाती है और उन्हें विविध रोग लग जाते हैं।

औषधियों का सेवन, हानिकारक—जब आदमी बीमार पड़ते हैं तो उसके असली कारण का विचार न कर वे रोग-मुक्त होने के लिए डाक्टरों और वैद्यों की शरण लेते हैं, जो तरह-तरह की औषधियाँ देते हैं। अधिकांश औषधियाँ मानव शरीर के लिए विजातीय होती हैं, इनका शरीर से मेल नहीं बैठता; ये अन्न, शाक, फल आदि की तरह हज्म होकर शरीर का अंग नहीं बनतीं। प्रकृति को ये पदार्थ शरीर से निकालने में बड़ी शक्ति लगानी पड़ती है। इस प्रकार, चाहे औषधियों से कुछ समय के लिए किसी बीमारी में कुछ आराम होता मालूम हो, आगे-पीछे वे बहुत ही हानिकारक सिद्ध होती हैं। परन्तु लोभी डाक्टर और वैद्य अपने मरीजों को भ्रम में डाले रखते हैं, और रोगी आदमी दवाइयों के चक्र में पड़े रह कर अपने स्वास्थ्य और सम्पत्ति को क्षति पहुँचाते रहते हैं।

अस्पतालों से अधिकांश जनता को कोई लाभ नहीं—अच्छे या ऊँचे दर्जे के कहे जाने वाले अस्पताल गाँव-गाँव में तो हो ही नहीं सकते। वे कस्बों में भी कम हैं। वे तो राज्यों के खास-खास केन्द्रीय नगरों में ही हैं। इन ऊँचे दर्जे के अस्पतालों का उपयोग उनके आसपास के ही आदमी कर सकते हैं, वे भी बहुत ही परिमित संख्या में। दूर के तो वे ही आदमी वहाँ पहुँच सकते हैं जिनके पास काफी पैसा खर्च करने को हो। अस्तु, अधिकांश स्थानीय जनता के लिए भी इन अस्पतालों का कोई उपयोग नहीं। अनेक आदमी निजी तौर पर चिकित्सा करने वाले डाक्टरों और वैद्यों से काम लेते हैं। बहुतों को उनकी सहायता या परामर्श भी सुलभ नहीं होता; और सुलभ होने की आशा ही नहीं की जा सकती। फिर भी चिकित्सा की मद में देश का कितना धन खर्च हो रहा है। इनसे यदि कुछ लाभ पहुँचता भी है तो मुट्ठी भर धनी लोगों को। इस प्रकार इन में पैसा और शक्ति लगाना प्रायः उसका दुरुपयोग ही करना है।

प्राकृतिक जीवन के प्रचार की आवश्यकता—आदमी भूल जाता है कि प्रकृति ने हमारे शरीर की रचना में ही रोग-निवारण की व्यवस्था कर दी है। अगर हम अपना जीवन प्राकृतिक बनाने की ओर ध्यान दें तो हमें बहुत करके बीमार ही न होना पड़े और यदि कभी बीमार हो भी जायँ तो प्रकृति द्वारा दिये हुए पदार्थों—जल, वायु, तेज, आकाश और मिट्टी—के उपचार से, और भोजन में आवश्यक परिवर्तन या सुधार से हम सहज ही आरोग्य लाभ कर सकते हैं। हमारा शरीर पंचतत्वों या महाभूतों से बना है; हमारी चिकित्सा में इन्हीं पदार्थों का उपयोग होना चाहिए।

यदि कोई चिकित्सा सर्वसाधारण को सुलभ हो सकती है तो वह प्राकृतिक चिकित्सा ही है। इसके जाननेवाले शहरों के जुदा-जुदा हिस्सों में, तथा हरेक गाँव में बैठें। इनमें इनका मुख्य काम चिकित्सा करना

नहीं, वरन् लोगों का, प्राकृतिक जीवन या रहनसहन रखने के विषय में, आवश्यक पथ-प्रदर्शन करना हो, जिससे आदमी बीमार पड़ने पर स्वयं अपने-अपने घर पर ही उचित उपचार कर लिया करें।

प्राकृतिक चिकित्सा के साधन सब को सुलभ— प्राकृतिक चिकित्सा के लिए हमें दूर-दूर से कीमती औषधियाँ मंगाने की जरूरत नहीं। ये तो हर जगह हर आदमी को सुलभ हैं। श्री विनोबा ने कहा है— 'वनस्पतियों का भी बहुत आधार लेने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। मिट्टी का उपचार हो सकता है, पानी का उपचार हो सकता है, प्रकाश का उपचार हो सकता है। शरीर में जो भी चीज भरी है, वह सारी ब्रह्मांड में भी मौजूद हैं। बाहर पानी है तो शरीर में रक्त आदि भरा है। बाहर सूर्यनारायण है तो शरीर में आँख है और प्रकाश है। बाहर वायु है तो शरीर में साँस है। यहाँ तक कि बाहर जो सोने और लोहे की खानें हैं, वह भी हमारे शरीर में मौजूद हैं। यानी हमारे रक्त आदि में जो धातु पड़े हैं उनमें लोहा भी है, ताँबा भी है और सुवर्ण भी है। यह सारी चीजें जो ब्रह्मांड में हैं, वे पिंड में भी पड़ी हैं। शरीर ही जब ब्रह्मांड का बना हुआ है तो पृथ्वी, आग, तेज, वायु, आकाश इन चीजों का खूबी के साथ निर्भयता पूर्वक प्रेम से अगर उपयोग करें तो बहुत सारे रोगों का हल हो सकता है।'*

विशेष वक्तव्य—प्राकृतिक चिकित्सा की विशेषता के विषय में हमने कुछ विस्तार से अपनी 'प्राकृतिक चिकित्सा ही क्यों?' पुस्तक में लिखा है। यहाँ हमें मुख्य बात यह कहनी है कि हम समाज में सब का हित चाहते हैं। हमें स्वास्थ्य और चिकित्सा के ऐसे ही साधनों का प्रचार और उपयोग करना चाहिए जो सब को सुलभ हो सकें; कुछ थोड़े से आदमियों के ही काम में आसकने वाले साधनों की वृद्धि

* सर्वोदय यात्रा

में समाज की शक्ति लगना अनैतिक और अनिष्टकारी है। गाँधी जी ने अपने जीवन में साहस-पूर्वक प्राकृतिक चिकित्सा सम्बन्धी अनेक कठिन प्रयोग किये, और अपने अनुभव से कहा है—'जिस चीज का मनुष्य पुतला है, उसी से इलाज ढूँढे। पुतला पृथ्वी, पानी, आकाश, तेज और वायु का बना है। इन पाँच तत्वों से जो मिल सके सो ले।... शुद्ध शरीर पैदा करने का प्रयत्न सब करें और उसी प्रयत्न में कुदरती इलाज अपने आप मर्यादित हो जाता है। दुनिया के असंख्य लोग दूसरा कर भी नहीं सकते, और जिसे असंख्य नहीं कर सकते, उसे थोड़े क्यों करें!'

पांचवां अध्याय

साहित्य कला और विज्ञान, लोकहित के लिए

जीवन में वास्तविक पूर्णता प्रदान करना ही कला है। संसार में वही सत्य और सुन्दर कला के उदाहरण उत्पन्न कर सकता है, जिसका हृदय सुन्दर है।

—गांधी जी

यदि विज्ञान का नियंत्रण कुछ ही व्यक्तियों के हाथ में रहा तो संसार को एक बड़े संकट का सामना करना पड़ेगा। मैं तो इस क्षेत्र में भी विकेन्द्रीकरण का सुझाव दूंगा।

—विनोबा

नये युग का करे दर्शन सुकवि स्वरकार से कह दो,
कलम में हो नया जादू कला—अवतार से कह दो।
नया साहित्य लिखना है—समय की छाप हो जिसपर,
सरल अभिव्यक्ति हो जिसकी कि जो हो—सत्य-शिव-सुन्दर॥

—ओंकारसिंह निर्भय

सर्वोदय दृष्टि से मानव जीवन की सभी प्रवृत्तियों का उद्देश्य लोकहित होना चाहिए। यहां साहित्य, कला और विज्ञान के सम्बन्ध में संक्षेप विचार किया जाता है।

[१]

साहित्य

साहित्य किसे कहें?—साहित्य के सम्बन्ध में विचार करते समय यह ध्यान रखने की बहुत जरूरत है कि आजकल इसके नाम पर लिखी या छपी जितनी चीजें सामने आती हैं, वे सब साहित्य नहीं है, उनमें से अधिकांश तो साहित्य के नाम पर कलंक-रूप हैं। वर्तमान काल में प्रेस या छापेखाने के सहारे एक पुस्तक या अखबार आदि की हजारों, और कुछ दशाओं में लाखों प्रतियां छपती हैं। स्वार्थी आदमी या संस्थाएँ प्रायः ऐसी चीजें छपाती हैं, जिनके ग्राहक अधिक से अधिक मिलने की आशा होती है, या जिनके प्रचार से उन्हें निजी लाभ खूब होता है, चाहे समाज की कितनी ही हानि हो। वास्तव में इसे साहित्य नहीं कहना चाहिए। साहित्य तो वही है, जिससे मनुष्य के विकास में सहायता मिले, जो पाठकों को अच्छा लोकहितकारी जीवन बिताने के लिए प्रेरित करे, जिससे समाज की न केवल आर्थिक वरन् नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति हो।

विनोबा ने कहा है—साहित्य तो वही है जो आत्मा के सहित, आत्मा के साथ चलता है। सहित यानी चलने वाला साथी। इसलिए जब वह अन्दर की गहरायी से बाहर आता है, तब सारे संसार को पावन करता है। वह किस गुहा से निकलता है, किसी को मालूम नहीं है। उस गुहा में दुनिया की पहुँच नहीं है। गंगा जब बाहर आती है, तब लोग उसे पहचानते हैं और गंगावगाहन (गंगास्नान) करते हैं।[1]

साहित्यकार कौन?—इसी प्रकार प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जो कुछ लेखन-कार्य करता है—निबन्ध, कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी

---

[1] 'साहित्यिकों से' पुस्तक से

आदि लिखता है—साहित्यकार नहीं कहा जाना चाहिए; चाहे उसकी एक-एक रचना की हजारों, लाखों प्रतियां छपती हों, और उससे उसे खूब प्रसिद्धि तथा धन प्राप्त होता हो। साहित्यकार वही व्यक्ति है जिसका हृदय और दृष्टिकोण उदार हो जिसके मन में मनुष्य जाति के सुख-दुख की अनुभूति होती हो, जिसे दूसरों के उत्थान की चिन्ता और लगन हो, जिसे जनता को कुछ हितकारी संदेश देने के लिए बेचैनी और छटपटाहट हो। ऐसा व्यक्ति चाहे कितना ही कम लिखे, या न भी लिखे, साहित्यकार है। जब वह लिखता है तो उसके मन में न यह अभिलाषा होती है कि इसके प्रतिफल-स्वरूप मुझे बहुत आमदनी हो या प्रतिष्ठा मिले, और न उसे यह अभिमान ही होता है कि मैं संसार का कुछ उपकार कर रहा हूँ। वह तो स्वयं अपनी मानसिक इच्छा की पूर्ति के लिए लिखता है, और जो लिखता है, उसमें लोक-रुचि की या किसी को प्रसन्न करने की भावना नहीं होती। उसे जो अन्तःकरण से प्रेरणा होती है उसे वह सीधी सादी वाणी से व्यक्त करता है।

साहित्यकार का जीवन—सच्चे साहित्यकार को भाषा के पांडित्य की या शब्दों की कलाबाजी की जरूरत नहीं। उसे तो अच्छे गुणों की और ऊंचे चरित्र की जरूरत है। आज दिन साहित्यकार कहे जाने वाले कितने ही व्यक्ति अपने आपको जन-साधारण से जुदा एक विशिष्ट दुनिया का प्राणी मानते हैं और रोजमर्रा के श्रम-साध्य कार्य करना कुछ अपमानजनक सा समझते हैं। वे अपने मन को प्रसन्न करने की या कुछ रईसी दिमाग वालों की कृपा-दृष्टि प्राप्त करने की धुन में रहते हैं। वास्तविक साहित्यकार को जनता का आदमी, जन-समाज में काम करने वाला होना चाहिए।

विनोबा के विचार—इस प्रसंग में अन्य बातों के अतिरिक्त विनोबा ने कहा है—'हिन्दुस्तान का साहित्य ऐसे लोगों के कारण बढ़ा

है, जिन्होंने लक्ष्मी को माता समझा, दासी नहीं। जो निरंतर साहित्य का सर्जन करते थे, वे समाज में काम करते रहे और शरीर के लिए जीवनाधार के तौर पर जो कुछ मिलता था, उसी से सन्तुष्ट रहते थे। उन्होंने राजाओं की परवाह नहीं की। पैसे से वे खरीदे नहीं जा सकते थे।

'···कबीर बुनकर न होता तो कबीर नहीं बनता। उस जमाने में छापाखाने नहीं थे, फिर भी उनके बिना ही कबीर के काव्य का प्रचार हुआ। वह जनता के उद्योग के साथ एकरूप था, इसलिए जनता के सुख दुख को वह समझता था। जनता के हृदय के साथ भी वह एकरूप था। इसलिए मैं मानता हूँ कि साहित्यिक या तो किसान हो सकता है या कोई उद्योग करने वाला हो सकता है। फकीर भी हो सकता है, जो जनता पर निर्भर रहे। ऐसे फकीरों को तो खाना मिले तो भी स्फूर्ति होती है, वह भी काव्य की प्रेरक बनती है। इस तरह साहित्यिक को पूर्ण विरक्त या सृष्टि का उपासक भक्त, दोनों में से एक बनना चाहिए।'[1]

[२]

कला

कला और उसका प्रयोजन—साधारणतया यह कहा जा सकता है कि जिससे मनुष्य को सुख मिले, उसके ज्ञान की वृद्धि हो, तथा जिसमें उसे सौन्दर्य का अनुभव हो, वही कला है। मनुष्य को हमेशा सुख की खोज रही है। सुख का एक प्रकार वह है जिसका अनुभव हमारे शरीर को, हमारी इन्द्रियों को होता है। यह बाह्य सुख है और बहुत से आदमियों के लिए यही सब कुछ है। तथापि यही कोई स्थायी, सूक्ष्म या ऊँचे दर्जे का सुख नहीं है। उसके लिए चाहिए हृदय का आनन्द या भावों की सुन्दरता। यही कला है। यह खाना

---

१ 'साहित्यिकों से' पुस्तक से

खाने, कपड़ा पहनने, बातचीत करने, रहनसहन आदि किसी काम को सुन्दर ढंग से करने का नाम है। मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कला का स्थान है। जब कला का जीवन से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है तो इस प्रश्न के लिए कोई गुंजायश ही नहीं कि कला का क्या प्रयोजन है। उसका एकमात्र उद्देश्य है मनुष्य को पशु-जीवन से ऊंचा उठाना, उसे मानवता प्रदान करना, और वास्तव में मनुष्य बनाना।

कलाकारों का उत्तरदायित्व—कला मानव जीवन के लिए हितकर उसी अवस्था में हो सकती है, जब उसका ठीक-ठीक उपयोग हो। इसलिए कलाकारों को बहुत विवेक-पूर्वक कार्य करना चाहिए। वे कला के नाम पर जो चीज दें, वह मानवता का विकास करने वाली हो, जीवन को ऊँचा उठाने वाली हो। हम, जैसे इस समय हैं, पिछली पीढ़ियों के ज्ञान, विचार और अनुभवों से प्रभावित हैं। भावी पीढ़ियाँ कैसी बनेंगी, उनका आचार-व्यवहार कैसा होगा, इसकी जिम्मेवारी हम पर है। ऐसा न हो, हम कला के नाम पर ऐसे चित्र या मूर्तियाँ बनावें, या ऐसे संगीत का प्रचार करें, जिसका कुफल हमारे समय के ही समाज को नहीं, वरन् चिरकाल बाद तक आने वाली पीढ़ियों को भी भोगना पड़े।

कला भीतरी भी होती है, केवल बाहरी नहीं। जब तक कला मनुष्य का आन्तरिक विकास भी करती है, तभी कला की सार्थकता है। इसके लिए आवश्यक है कि कलाकार केवल कलात्मक कृतियाँ बनाने की ओर न लगे रह कर अपने निर्माण की साधना करे, अपना चरित्र ऊँचा रखे, सादगी और सेवा की दीक्षा ले। तभी वह अपना कर्तव्य पूरा कर सकेगा।

कला का आदर्श—कला का आदर्श 'सत्यम्, शिवम और सुन्दरम्' है। यदि किसी कार्य में केवल सौन्दर्य को ही प्रधानता दी

जाय और वह भी उच्छृंखलता-पूर्वक, सत्य का नाममात्र का आसरा लिया जाय और शिवम् अर्थात् लोक-कल्याण की उपेक्षा कर दी जाय तो वह कार्य मनुष्य को पशुत्व को हटाने और उसे मनुष्यत्व प्रदान करने में समर्थ न होगा। सौन्दर्य को उसी सीमा तक स्थान मिलना चाहिए जहाँ तक वह शरीर के साथ मन और आत्मा के विकास में सहायक है; यही नहीं, जिससे मन और आत्मा का विकास नहीं होता, वह सौन्दर्य ही नहीं है। अस्तु, कला मनुष्य का बाहरी और भीतरी, तथा बाहरी से अधिक भीतरी विकास करने वाली और लोकहित करने वाली होनी चाहिए।

[२]

विज्ञान

विज्ञान ने मनुष्य को महान शक्ति प्रदान की—स्थूल और सूक्ष्म, जड़ और चेतन, किसी भी पदार्थ या विषय का तर्कसंगत और सिलसिलेवार ज्ञान विज्ञान कहलाता है। इसका क्षेत्र अनन्त है। आजकल भौतिक विज्ञान को बहुत महत्व दिया जाता है और विज्ञान कहने से प्रायः इसी का आशय लिया जाता है। इस विज्ञान ने मनुष्य को जल, थल और आकाश पर अनन्त शक्ति दे दी है और देता जा रहा है। मनुष्य अब प्रकृति के बहुत से रहस्यों को जान गया है, उसे निरन्तर नये-नये ज्ञान की प्राप्ति होती जाती है।

शक्ति के उपयोग और दुरुपयोग की बात—विज्ञान से प्राप्त शक्ति के उपयोग से मनुष्य ने अपने आप को बहुत सुखी बनाने का प्रयत्न किया है। खानपान, यात्रा, विश्राम आदि के आजदिन कितने साधन विद्यमान हैं। प्राचीन काल में असंभव समझे जाने वाले अनेक कठिन कार्य अब बिलकुल आसान हो गये हैं और आदमी इसी दुनिया

में स्वर्ग या बहिश्त का सा आमन्द ले रहा है : वह अपने साथी पड़ोसियों की ही नहीं, सैकड़ों हजारों मील दूर रहने वालों की भी अनुपम सेवा और सहायता कर सकता है। परन्तु इसका दूसरा पक्ष भी है। पहले जब विज्ञान की इतनी उन्नति नहीं हुई थी, आदमी एक दूसरे की इतनी हानि नहीं करते थे, नहीं कर सकते थे। आज विज्ञान की सहायता से आदमी की घातक शक्ति बहुत बढ़ भी गयी है। आदमी अपने भोग-विलास की सामग्री बढ़ाने में लगा है और जिस किसी को वह इसमें बाधक समझता है उसके प्रति क्रूर व्यवहार करने में उसे संकोच नहीं होता। विज्ञान के दुरुपयोग ने मानवता का ह्रास कर दिया है।

आदमी की दयनीय दशा—आदमी भौतिक विज्ञान की शक्ति को पाकर कुछ बौखला सा गया है, वह नहीं जानता कि इसे किस काम में लाना ठीक होगा। उसकी स्थिति आस्कर वाइल्ड की एक आख्या-यिका के नायकों की सी हो गयी है। उसमें कहा गया है—

एक बार हजरत ईसा नगर में घूम रहे थे। उन्हें एक जगह बहुत शोरगुल सुनायी दिया। उन्होंने देखा कि एक नवयुवक शराब पिये हुये है, वह घर वालों से लड़झगड़ रहा है और बुरे भले शब्द कह रहा है। ईसा ने उसे शान्त करते हुए पूछा—'तुम मद्यपान में अपनी आत्मा का हनन क्यों कर रहे हो?'

युवक—प्रभु ! मैं एक कोढ़ी था; आपने मुझे स्वस्थ कर दिया, अब मैं और कर ही क्या सकता हूँ !

आगे चल कर एक युवक को वेश्या का पीछा करते देख कर ईसा ने पूछा—तुम व्यभिचार में अपनी आत्मा का विनाश क्यों कर रहे हो?

उत्तर मिला—प्रभु ! मैं अन्धा था। आपने मुझे नेत्र दिये। अब इसके अतिरिक्त मैं और क्या करूँ !

अन्त में ईसा ने एक बुडढे को जमीन पर पड़े, रोते देखकर पूछा—तू क्यों रो रहा है ?

बुडढे ने उत्तर दिया—'मैं मर गया था, आपने मुझे जीवन दान दिया, अब रोने के अतिरिक्त मैं और क्या करूँ ?

इस आख्यायिका में नायक ईसा से प्राप्त अपने स्वास्थ्य को मदिरा-पान में, देखने की शक्ति को व्यभिचार में, और जीवन की शक्ति को रोने-धोने में खर्च करते हैं। इसी प्रकार आदमी विज्ञान से प्राप्त शक्ति का उपयोग (!) स्वयं अपने तथा दूसरों के अहित में कर रहा है।

आध्यात्मिक और भौतिक विज्ञान के समन्वय की आवश्यकता—आदमी की इस दुर्दशा का कारण यह है कि उसकी वैज्ञानिक उन्नति एकांगी हुई है। मनुष्य का हृदय यथेष्ट उदार नहीं हुआ, वह दूसरों से आत्मीयता का अनुभव नहीं करता। दूसरे शब्दों में उसे आध्यात्मिक विज्ञान की भी समुचित साधना करनी चाहिए। भौतिक विज्ञान से हम अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के साथ यह भी ध्यान रखें कि उन आवश्यकताओं पर नियंत्रण रखना भी बहुत जरूरी है। इस प्रकार अपनी शक्ति और समय को बचा कर उसका उपयोग लोकसेवा में किया जाय। इससे आदमी को जो अद्भुत आनन्द मिलेगा, वह पहले से ध्यान में आना कठिन है, वह तो लोकसेवा करने पर ही अनुभव में आएगा।

अहिंसा की अनिवार्यता—आध्यात्मिक विज्ञान से प्रेम, सेवा, अहिंसा आदि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। तथापि इस बात का स्पष्ट उल्लेख करना है कि आज दिन भौतिक विज्ञान की उन्नति से मनुष्य ऐसी स्थिति में आ गया है कि अहिंसा के बिना उसका जीवन संकट-ग्रस्त होगा। विनोबा ने कहा है कि 'यह अहिंसा का ही युग है। विज्ञान के साथ अगर अहिंसा न रही तो मानव खतम हो जायगा। केवल विज्ञान से लड़ाइयां बढ़ेंगी और कोई लाभ नहीं होगा। अणुबम और

उद्जन (हाइड्रोजन) बम आदि के आविष्कारों और प्रयोगों ने राष्ट्र-सूत्रधारों को इस ओर ध्यान देने के लिए विवश किया है। पर अभी बहुत गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता है ।

विशेष वक्तव्य—साहित्य, कला और विज्ञान के विषय में हमारी 'मानव संस्कृति' पुस्तक में खुलासा लिखा गया है। इस अध्याय की कुछ बातें उसी से संकलित कर यहाँ संक्षेप में दी गयी हैं। मूल बात यह है कि इन प्रवृत्तियों का उपयोग मनुष्य के निजी सुख या स्वार्थ-साधन के लिए न होकर लोकहितार्थ होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि साहित्यकार, कलाकार और वैज्ञानिक सादगी, संयम और सेवा का जीवन बितायें ।

छठा अध्याय

सच्चा धर्म—प्रेम और सेवा

धर्म का मतलब सत्य यानी ईश्वर की प्राप्ति है। धर्म प्रेम का पन्थ है, फिर घृणा कैसी, द्वेष कैसा, मिथ्याभिमान कैसा! मनुष्य एक ओर तो ईश्वर की पूजा करे, दूसरी ओर मनुष्य का तिरस्कार करे, यह बात बनने लायक नहीं।

—गांधी जी

आज हम लोगों को केवल एक नैतिक उपदेश देते रहें तो उससे काम नहीं होगा। आज तो हमें लोगों की मुश्किलें दुश्वारियां दूर करनी होंगी, तभी उनमें सद्विचार स्थिर होंगे। जिस वक्त आसपास आग लगी हो, उस वक्त हम मूर्ति का ध्यान करने बैठें तो यह भक्ति-मार्ग का लक्षण नहीं होगा। उस समय तो हाथ में बाल्टी लेकर आग बुझाने के लिए दौड़ना ही भक्ति-मार्ग का लक्षण होगा।

—विनोबा

धार्मिक उपदेश और शिक्षाएँ अनन्त हैं—इस समय संसार में अनेक धर्म, मजहब या पन्थ प्रचलित हैं। प्रत्येक धर्म के उपदेशों और शिक्षाओं सम्बन्धी बहुत सा साहित्य है। खासकर मुख्य-मुख्य धर्मों के साहित्य का परिमाण तो निरन्तर बढ़ता जाता है। आदमी अपने-अपने धर्म के प्रवर्तक तथा अन्य मान्य पुरुषों के वाक्यों की तरह-तरह की व्याख्याएँ और टीकाएँ विविध भाषाओं में छपवाते और प्रचार करते रहते हैं। इस प्रकार एक-एक धर्म सम्बन्धी इतने ग्रन्थ हैं कि आदमी जन्म भर उन्हें ही पढ़ता रहे तो भी सब को न

पढ़ सके; और साधारण आदमी अकेले इसी काम में लगा भी नहीं रह सकता। अस्तु, धार्मिक उपदेशों और शिक्षाओं का तथा टीका-टिप्पणियों का कोई अन्त नहीं।

धर्म का सार—साधारण मनुष्य को धर्म की बारीकियों और उलझनों में पड़ने की आवश्यकता नहीं। मुख्य तत्व की बात जान लेनी चाहिए। कबीर ने ठीक बताया है।

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम के, पढ़े सो पण्डित होय॥

इसी प्रकार तुलसी ने भी कहा है—

परहित सरस धर्म नहिं भाई
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।

इस तरह सरल सीधी भाषा में धर्म का अर्थ प्रेम और परहित साधन या सेवा है। आदमी को इन्हें अमल में लाकर अपना जीवन सार्थक करना चाहिए।

सत्व्यवहार ही भगवान की पूजा है—हम सब भगवान की पूजा उपासना करने का दम भरते हैं। पर भगवान हमें दरिद्रनारायण के रूप में दर्शन देता है तो हम उसकी उपेक्षा करते हैं। इसलाम धर्म-ग्रन्थों में कहा गया है कि एक धनवान के मरने पर अल्लाह उससे कहता है कि, 'ऐ आदमी के बेटे! मैं भूखा था, तूने मुझे खाने को नहीं दिया।' आदमी पूछता है 'तूने मुझसे खाना कब मांगा और कब मैंने तुझे खाना नहीं दिया?' अल्लाह जवाब देता है 'मैं मजदूर के रूप में तेरे पास गया और तूने मुझे मुनासिब मजदूरी नहीं दी। इससे मैं भूखा रहा।' फिर अल्लाह कहता है, 'ऐ आदमी के बेटे! मैं प्यासा था, तूने पानी नहीं दिया।' आदमी हैरान होकर पूछता है 'कब तूने मुझ से पानी माँगा और कब मैंने पानी नहीं दिया?' 'अल्लाह जवाब देता है कि मैं मेहनत करने के बाद प्यासा होने पर तेरे दरवाजे पर

गया और तुझ से पानी माँगा पर तूने मुझे पानी नहीं दिया।' यह बात हमारे सामाजिक व्यवहार पर कितनी ठीक बैठती है!

प्रेम में अस्पृश्यता नहीं, ऊँच-नीच नहीं, समदर्शिता है—असली धर्म मानने वाले व्यक्ति के लिए यह सारा संसार ईश्वरमय है। वह सब प्राणियों से प्रेम करेगा, उसके प्रेम का क्षेत्र उसके परिवार या रिश्तेदारों तक ही, या उसकी जाति बिरादरी के लोगों तक ही सीमित नहीं होता, वह सब में ईश्वर का स्वरूप देखता है। वह सब से स्नेह का नाता रखता है, सब को अपने परिवार या कुटुम्ब का मानता है। उसके लिए छुआछूत का प्रश्न ही नहीं रहता, वह सब को समभाव से से देखता है, सब से प्रेम करता है, ऊँच-नीच की थोथी कल्पना को उसके मन में स्थान नहीं मिल सकता। वह किसी को कष्ट दे ही कैसे सकता है; उसके लिए दूसरों को पीड़ा पहुँचाना स्वयं अपने आप को पीड़ा पहुँचाना है। वह किसी के मजहब की निन्दा नहीं करता, वह सब में समदृष्टि रखता है, और सब की अच्छी-अच्छी बातें ग्रहण करने को तैयार रहता है।

सेवामय जीवन—ऐसा प्रेमी व्यक्ति प्राणी-मात्र में एकता अनुभव करता है। और वह ऐक्य-साधन करता है। ऐक्य-साधन का मार्ग लोकसेवा है। यही प्रेम का व्यवहारिक स्वरूप है। हमारा किसी को प्रेम करने का अर्थ यही नहीं है कि हम उसके लिए कुछ मीठे शब्द कह कर रह जायँ। प्रेम तभी सार्थक है जब हम अपने प्रेम-पात्र का हित चाहें और हित-साधन का प्रयत्न करें, उसके कष्टों और अभावों को दूर करने का उपाय निकालें और उसकी उन्नति तथा विकास का मार्ग प्रशस्त करें। धर्म-भावना वाले अपने कर्तव्य-पालन में सब-प्रकार कष्ट सहते और त्याग करते हैं, और वे इसमें कोई दुख अनुभव नहीं करते। उनके हृदय में सब के लिए माता का सा प्रेम होता है। वे अपने पास के सब आदमियों को सुख पहुँचाने में अपना सुख मानते

हैं। सेवा करना उनका स्वभाव ही होता है, इसके लिए उन्हें विशेष प्रयत्न करना नहीं पड़ता।

सेवा के अनेक क्षेत्र—सेवा किसी खास प्रकार के नपे-तुले काम का नाम नहीं है; और यह कोई खास पेशा नहीं है। हम चाहे जो कार्य करें, उसमें परहित का लक्ष्य हो तथा सत्य, अहिन्सा आदि गुणों के अभ्यास का निरंतर ध्यान रखें तो वही कार्य सेवा-कार्य हो जायगा। उदाहरण के लिए व्यपार की बात लीजिए। प्रायः आदमी समझते हैं यह सेवा-कार्य नहीं हो सकता। इसे धन कमाने का साधन माना जाता है। परन्तु वास्तव में यह बहुत बड़ी सेवा का कार्य है। एक गाँव में लोगों के भोजन वस्त्र आदि की प्रमुख आवश्यकता के किसी पदार्थ की कमी के कारण बहुत संकट है व्यापारी इस पदार्थ को दूसरे स्थान से लाकर वहाँ पहुँचाता है, और इसकी मूल लागत में, मार्ग-व्यय तथा अपना मामूली मेहनताना जोड़ कर इसे साधारण मूल्य में जनता के हाथों बेचता है तो यह व्यापार सेवा-कार्य ही है। हाँ, अगर व्यापारी का लक्ष्य अपने कार्य द्वारा अधिक से अधिक धन बटोरना हो, वह लोगों की प्रमुख आवश्यकताओं का विचार न कर ऐसे पदार्थों का प्रचार करता है जो जनता के भोग विलास के साधन हों, और जिन्हें खरीदने के लिए आदमी भारी मूल्य भी देने को तैयार हों, या तैयार किये जाते हों तो यह कार्य सेवा-कार्य नहीं माना जा सकता। वास्तव में इसे व्यापार कहना ही भूल है। यह तो सरासर लूट है, चाहे वह समाज में खूब चल रही हो और कानून से अपराध न मानी जाती हो। अस्तु, परहित का ध्यान रखते हुए तथा साधारण पारिश्रमिक या मेहनताना ले कर किया हुआ व्यापार सेवा ही है। वास्तविक व्यापार और सेवा में कोई विरोध नहीं है।

इसी प्रकार यदि कोई डाक्टर या वैद्य इस बात के लिए प्रयत्नशील है कि आदमी बीमार न पड़ें, वह जनता में स्वास्थ्य के नियमों का प्रचार

करता है, और उन्हें सावधान करता है कि अमुक ऋतु में ऐसा खान-दान आदि करना रोगों को आमंत्रित करना है, वह बीमारों को जल्दी से जल्दी तथा अल्प व्यय से ही निरोग करने के लिए चिकित्सा करता है तो उसका यह कार्य सेवा-कार्य ही है, भले ही वह डाक्टर या वैद्य अपने निर्वाह के लिए लोगों से अपने काम की साधारण फीस क्यों न लेता हो। इसके विपरीत, यदि वह धन-संग्रह के लिए रोगियों को दवाई के चक्कर में डालता है, मंहगी और खूब मुनाफा देने वाली विधियों का उपयोग करता है, यहाँ तक कि गरीब और असमर्थ लोगों से भी भारी-भारी फीस वसूल करता है, और रोगियों के स्वस्थ न होने तथा मर जाने पर भी अपनी फीस का अधिकार नहीं छोड़ता तो इस कार्य को सेवा-कार्य नहीं माना जायगा; और इसे करने वाले को वास्तव में डाक्टर या वैद्य कहना इन शब्दों का दुरुपयोग करना है।

इसी तरह शिक्षक, लेखक, प्रकाशक, चौकीदार, मुनीम, दुकानदार आदि के कार्यों का विचार किया जा सकता है।

विशेष वक्तव्य—किसी कार्य के सेवा-कार्य होने के लिए यह आवश्यक ही है कि वह निरहंकार तथा निष्काम भाव से किया जाय। सेवा करने वाला अपना काम कर्तव्य समझ कर करता है। उसके मन में यह विचार नहीं आता कि मैं समाज पर कोई उपकार या एहसान करता हूँ। वह अपने आपको समाज का एक अंग मानता है. और अपनी बुद्धि, शक्ति और योग्यता आदि को समाज द्वारा प्राप्त समझता है। इसलिए वह समाज का हिस्सा चुका कर उससे यथा-शक्ति उऋण होने का प्रयत्न करता है, इसमें अहंकार या अभिमान की गुंजाइश ही कहाँ! अस्तु, प्रेमी और सेवा-भावी सज्जन ही वास्तव में धर्मात्मा हैं।

सातवाँ अध्याय

मनुष्य मनुष्य है, क्रय-विक्रय की चीज नहीं

मजदूरी उत्पादन के परिमाण पर नहीं, मनुष्य की आवश्यकता पर आधारित होनी चाहिए। ... कीमतों के जरिये हम खेती-किसानी करने वाले लोगों का जीवन सत्व ही खींच लेते हैं। आज सारे अर्थ-व्यवसाय का आधार अन्याय बन गया है, हमें इसे बदलना होगा।

—जे० कॉ० कुमारप्पा

गुलामी अमानुषिक थी—एक जमाना था, जब गुलामी की प्रथा प्रचलित थी; कुछ देशों में तो जगह-जगह आदमियों, औरतों और बच्चों की मंडी लगती थी, जैसे भेड़-बकरियों की हाट लगती है। मनुष्यों की खुले-आम खरीद-बेच होती थी। बिका हुआ आदमी खरीददार का गुलाम होता था। मालिक अपने गुलाम से चाहे जैसा बर्ताव कर सकता था, वह उससे कठोर से कठोर काम ले सकता था। उसे मार-पीट सकता था, और तरह-तरह के कष्ट पहुँचा सकता था। इसमें किसी को कुछ कहने सुनने का अधिकार न था, यह कानून से जायज़ माना जाता था। कितना अमानुषिक व्यवहार था वह!

आजकल की मजदूर-प्रथा भी मानवीय भावना रहित है—वह जमाना बीत गया। हम उसे पीछे छोड़ आये, और बहुत आगे बढ़ आये हैं। हम अपने आपको बहुत सभ्य समझते हैं। पर क्या हमारे जीवन में जो मजदूर-प्रथा चल रही है, वह मानवीय भावना रहित नहीं है? हम मानव श्रम को एक वस्तु, की तरह ख

हमारी दी हुई कीमत के पैसों से मजदूर का पेट भरता है या नहीं, इसकी हमें चिन्ता नहीं होती। मजदूर के आश्रित स्त्री-बच्चों की बात हम नहीं सोचते। हम कह सकते हैं कि मजदूर ने अपनी इच्छा से हमारा काम करना स्वीकार किया। उसने स्वतंत्रता-पूर्वक हमसे मजदूरी तय की। परन्तु वर्तमान अर्थव्यवस्था में उसकी वह स्वतंत्रता किस काम की, जब वह इतनी अल्प मजदूरी पर काम करने के लिए मजबूर होता है, जिससे उसका निर्वाह नहीं हो सकता! उस बेचारे के पास हमारी दी हुई मजदूरी स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं। वह बेकार है, और कहीं उसे दूसरा इससे अधिक मजदूरी देने वाला काम पाने की आशा नहीं, इसलिए वह यदि हमारा काम करना स्वीकार न करे तो इन थोड़े से पैसों से भी वंचित रह जाय। इसलिए मजदूर पूरा भूखा और आधा भूखा रहने की दो बुराइयों में से आधा भूखा रहने की कम बुराई का स्वागत करता है। पिछले जमाने में गुलामों के मालिक यह तो सोच लेते थे कि अगर गुलाम को पेट भर भोजन न मिलेगा तो उसके मरने की आशंका होगी, और एक मजदूर के मर जाने से मालिक उतनी पूँजी डूब जायगी। अब मजदूरों से काम लेने वाले को इस तरह की चिन्ता करने की जरूरत नहीं रहती; उसके दिये पैसों से मजदूर और उसके परिवार का निर्वाह हो या न हो, मालिक की बला से! उसने 'स्वतंत्र' समझौते के अनुसार मजदूरी चुका दी। कानून की माँग पूरी कर दी। बस, और कुछ करने-धरने की बात ही क्या रही! अस्तु इस समय मजदूरी देने में मानवता की भावना नहीं रहती।

मानवीय दृष्टिकोण की आवश्यकता—आवश्यकता इस बात को ध्यान में रखने की है कि मनुष्य मनुष्य है, वह क्रय-विक्रय की वस्तु नहीं। इसलिए मजदूरी का आधार उत्पादन का परिमाण नहीं होना चाहिए, वरन् मनुष्य की आवश्यकता होनी चाहिए अर्थात्

मजदूर को इतनी मजदूरी मिलनी चाहिए कि उससे उसका निर्वाह अच्छी तरह हो सके, वह अच्छा जीवन बिता सके। इसके साथ उसके काम करने के लिए वातावरण भी अनुकूल होना चाहिए। पर आजकल यह बात बिलकुल भुला दी जाती है। हम बाजार में फल तरकारी आदि खरीदने जाते हैं तो मांगी हुई कीमत को यथा-सम्भव कम करने की कोशिश करते हैं। हमें सोचना चाहिए कि फल या तरकारी वाले को इसमें कितना श्रम करना पड़ा होगा और जो कीमत हम दे रहे हैं उससे उसका निर्वाह कहाँ तक अच्छी तरह हो सकेगा।

सामाजिक न्याय और कीमतें—इस दृष्टि से विचार करें तो खेती से पैदा होने वाले पदार्थों की कीमत तथा शरीर-श्रम करने वालों की मजदूरी काफी ऊँची उठनी चाहिए। अभी तो सारा आर्थिक व्यवहार बड़ा अनीतिमय चल रहा है। हम सब अन्याय करते हैं और इसे करने के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि हम कभी यही नहीं सोचते कि हम कुछ अनुचित कार्य कर रहे हैं। इसका परिणाम यह है कि जो भाई वास्तव में समाज में अन्नदाता या उत्पादक हैं, उनकी दशा शोचनीय है। किसान और मजदूरों द्वारा ही राष्ट्र का पालन-पोषण होता है और वे ही भूखे नंगे रहते हैं। यह स्थिति बदलनी होगी।

जैसा श्री कुमारप्पा ने कहा है, कल्पना कीजिए कि एक खजूर का रस निकालने वाले को अपने संतुलित आहार, स्वास्थ्यप्रद मकान आदि के लिए आज की कीमतों के अनुसार १५०) रु० प्रति माह की आवश्यकता है तो जितना रस वह ईमानदारी और होशियारी से एक माह में निकाल सके उसके लिए उसे १५०) रु० प्रति माह मिलना चाहिए। हो सकता है कि इसके लिए हमें गुड़ की कीमत आज की बनिस्बत ज्यादा ऊँची रखनी पड़े। यदि हमारा उद्देश्य सामाजिक न्याय की स्थापना करना है तो ऊँची कीमतों से डरना नहीं चाहिए।

स्थानीय खरीद की विशेषता—ऊपर बताये हुए सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक देश में आदमी अधिक से अधिक ऐसी चीजों को खरीदें जो उनके आसपास रहने वाले लोगों ने पैदा की हो या बनायी हो। इससे यह अच्छी तरह ज्ञात हो सकेगा कि उत्पादकों या श्रमियों की स्थिति कैसी है, उनके जीवन-निर्वाह की आवश्यकता क्या या कितनी है, और कोई उनका शोषण तो नहीं कर रहा है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमें विदेशी माल तो यथा-सम्भव बिलकुल ही नहीं खरीदना चाहिए। क्योंकि हम नहीं जान सकते कि वहाँ के श्रमजीवियों को कैसी परिस्थितियों में काम करना होता है और वहाँ मानवीय मूल्यों की स्थापना कितने अंश में है। इसके अतिरिक्त हमें अपने देश की मिलों का माल भी, बहुत ही अनिवार्य होने की दशा को छोड़ कर, नहीं खरीदना चाहिए, क्योंकि हम अच्छी तरह जानते हैं कि यद्यपि मिलों में काम करने वाले मजदूरों को अन्य मजदूरों की अपेक्षा कुछ अधिक वेतन मिलता है, इनके द्वारा बहुत से मजदूरों का काम छिन जाता है। यदि उन सब का विचार करें तो मिलों में दिया जाने वाला वेतन अन्य मजदूरों के वेतन से बहुत कम ही बैठता है। फिर मिलों और कारखानों में होने वाली आय का अधिकांश भाग इनके मालिकों को मिलता है, या इने गिने उच्च कर्मचारियों के वेतन आदि में खर्च होता है, और शेष बहुत थोड़ा सा हिस्सा हजारों मज़दूरों में बँटता है। इससे घोर आर्थिक विषमता होती है; देश में जो बेकारी फैलती है, उसका तो कहना ही क्या! निदान, जहाँ तक भी सम्भव हो, हमें अपने रोजमर्रा की बुनियादी जरूरतों की चीजें अपने गाँव या नगर के किसानों या कारीगरों आदि से खरीदनी चाहिए, जिनके समूह के लोगों से हम नित्य सम्पर्क में आते हैं, जिनके रहनसहन, आवश्यकताओं आदि का हमें सहज ही ज्ञान होता रहता है।

व्यवहार का विषय मानव आत्मा है—यहाँ हमें स्थानीय क्रय-विक्रय की एक खास विशेषता की ओर ध्यान दिलाना है। दूर-दूर की चीजों के व्यापार में मूल्य-प्रणाली या पैसे की अर्थ-व्यवस्था चलती है। आदमी वस्तु लेते हैं, कीमत चुका देते हैं। बस, वस्तु लेने वाले और देने वाले का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। उनका प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं होता। अनेक दशाओं में बर्षों व्यवहार चलते रहने पर भी वे एक दूसरे को नाम से ही जानते हैं, और कभी-कभी तो दुकान या फर्म का ही नाम जान पाते हैं। उन्हें एक-दूसरे से मिलने का अवसर नहीं आता। मानवीय सम्बन्ध तो स्थानीय क्रय-विक्रय से ही होता है। जैसे कि श्री जो० का० कुमारप्पा ने पुरी के सर्वोदय सम्मेलन में कहा था, 'हमें याद रखना चाहिए कि हमारे व्यवहार के विषय सिर्फ वस्तुएँ ही नहीं, बल्कि मनुष्य की आत्मा है। अगर हम इस बात को समझलें तो फिर से हम में मानवीय सम्बन्ध स्थापित हो सकेंगे और हम अपने आप को मानव बन्धुओं के अनुरूप बना सकेंगे।'

आठवां अध्याय

समाज धन-निष्ठ नहीं, श्रम-निष्ठ

यदि सब अपनी रोटी के लिए खुद मेहनत करें तो ऊंच-नीच का भेद दूर हो जाय, फिर जो धनी वर्ग रह जायगा, वह अपने को मालिक न मान कर उस धन का केवल रक्षक या ट्रस्टी मानेगा? उसका उपयोग केवल लोक-सेवा के लिए करेगा।

--गांधी जी

आज की रुपये की आर्थिक व्यवस्था मनुष्य को अन्धा बनाकर उसे असत्य, शोषण, और हिंसा की ओर ले जाती है, तथा झूठ फरेब और ठगाई का बाजार गर्म करती है।

—जो० का० कुमारप्पा

धन-निष्ठ समाज में अनावश्यक और हानिकारक उत्पादन---पहले समाज श्रमनिष्ठ था। आदमी को जिस चीज की जरूरत होती थी, उसके लिए वह श्रम करता था। यदि कोई काम वह स्वयं नहीं कर सकता और उसे दूसरे से कराना होता था, तो वह उसके श्रम का बदला भी श्रम में ही चुका देता था। हजारों वर्ष ऐसा होता रहा; अब भी इसकी याद दिलाने वाले प्रमाण मौजूद हैं, यद्यपि वे लुप्त होते जा रहे हैं। अब आदमी जो श्रम करता है, उसका तोल माप पैसे में होने लगा है। इससे आदमी ऐसा ही काम करता है, जिससे उसे धन अधिक मिले, चाहे वह काम लोकहित की दृष्टि से कम आवश्यक ही नहीं, अनावश्यक और हानिकर भी क्यों न हो। उदाहरण लीजिए। पैसे के चक्र में पड़ा हुआ किसान हिसाब लगा कर देखता है कि किस

वस्तु के उत्पादन से उसे अधिक पैसा मिलेगा और अगर उसे मालूम होता है कि अन्न या कपास की अपेक्षा तमाखू, नारियल या गन्ने आदि की फसल से अधिक प्राप्ति होगी तो वह इन वस्तुओं के उत्पादन में लग जाता है। इसी प्रकार जब वह देखता है कि मिलों में काम आने वाले या विदेशों को भेजने वाले किसी कच्चे पदार्थ से उसे अपेक्षाकृत अधिक आय होगी तो वह ग्रामोद्योगों की उपेक्षा कर सहज ही उन वस्तुओं की पैदावार बढ़ाने में अपनी शक्ति लगा देगा। इसका नतीजा यह होता है कि गाँव में जीवन-रक्षक पदार्थों की कमी होती है, ग्रामोद्योगों का ह्रास होता है, बेरोजगारी बढ़ती है, सर्वसाधारण को कष्ट पहुँचता है तथा विलासिता या शौकीनी के पदार्थों का उत्पादन बढ़ता है। ये पदार्थ थोड़े से ऊपरी वर्ग के लोगों की माँग पूरी करते हैं। कुछ अंश में मध्यम श्रेणी के तथा गरीब आदमी भी इन्हें खरीदते हैं, पर इससे उन्हें अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बहुत कष्ट उठाना पड़ता है।

समुद्र में भी मीन प्यासी—धन-निष्ठ समाज में ऐसे उदाहरणों का मिलना साधारण बात है, जब अन्नदाता कहे जाने वाले आदमी स्वयं अपने द्वारा उत्पन्न पदार्थों के उपयोग के लिए तरसते रहें। धन-निष्ठा के कारण किसान बढ़िया अन्न बिक्री के लिए रखता है, वह स्वयं तथा उसके बाल-बच्चे घटिया अन्नों पर गुजर बसर करते हैं, और वे घटिया अन्न भी कभी-कभी उन्हें काफी परिमाण में नहीं मिल पाते। अनेक माली अपने अच्छे फलों को बिकने के लिए बाजार भेज देते हैं, उनके घर वालों को खराब या कटे फटे फलों से संतोष करना पड़ता है। शहद इकट्ठा करने वालों में बहुत सों के बालकों को कभी शहद खाने का मौका नहीं आता। धन-निष्ठ समाज में सब चीजें उनके लिए होती हैं जिनके पास पैसा होता है, चाहे वह पैसा बिना श्रम ही संग्रह किया गया हो।

पैसे वाले बिना श्रम किये ही मौज उड़ाते हैं—ऊपर, बिना श्रम के पैसा संग्रह करने की बात कही गयी है। इसको जरा स्पष्ट कर दिया जाय। पैसे में एक बड़ा गुण (दुर्गुण ?) यह है कि वह स्वयं अपने को बेहद बढ़ा सकता है। 'रुपये वाले को पैसा' कहावत सर्वथा सत्य है। जिसके पास एक बार पैसा हो जाता है, वह फिर पैसे से और बहुत सा पैसा पैदा कर सकता है। उदाहरण के लिए वह आज की व्यवस्था में दूसरों को उधार देकर ब्याज ही ब्याज में बहुत धन कमा लेते हैं। कुछ लोग पैसा इमारतों में लगा देते हैं, फिर जन्म भर किराये की आमदनी पर मौज उठाते हैं यही नहीं, अपने उत्तराधिकारियों के लिए भी खाली बैठे मौज उड़ाने का साधन छोड़ जाते हैं। आज कल कितने ही आदमी तांगे या रिक्शा रखकर उन्हें किराये पर उठा देते हैं। किसी के पास पचास-पचास रिक्शा होती हैं। वह एक-एक रिक्शा चालक से रोजाना डेढ-दो रुपये लेता है। इस प्रकार प्रति दिन सौ-पौन-सौ रुपये की प्राप्ति हो जाती है, इसमें से कुछ रिक्शाओं के मरम्मत आदि में खर्च हो जाने पर भी मालिक को बिना कुछ हाथ-पांव हिलाये खूब ठाठ की बचत होती है।

पैसे वाला दूसरों की मेहनत से फायदा उठाता है—धननिष्ठ समाज की एक और अनीति देखिये। पैसे वाला दूसरों की मेहनत खरीद कर उससे बेहद लाभ उठा सकता है। धनी आदमी मजदूरों से खेती कराते हैं और कारखानों में सामान तैयार कराते हैं। वे मजदूरों को साधारण बाजार दर से मजदूरी देकर स्वयं सब पैदावार के मालिक होते हैं। मजदूरों का अपनी मजदूरी से मामूली निर्वाह होता है, और अनेक दशाओं में वह भी नहीं होता; दूसरी ओर धनवानों के यहाँ तो संचित धन का परिमाण निरन्तर बढ़ता रहता है। इस जमाने में भाप, गैस, बिजली आदि शक्ति का उपयोग करने वाले यंत्रों का आविष्कार और प्रचार होने से अब एक-एक कारखाने में हजारों

मजदूरों से लिया जा सकता है। इससे कारखाने वालों के लखपति, करोड़पति या अरबपति आदि होने के अवसर खूब बढ़ गये हैं और उत्तरोत्तर बढ़ते जा रहे हैं।

नैतिक पतन—धन-निष्ठ समाज में धनवान का आदर मान होता है, उसकी तुलना में विद्वान, सदाचारी, संयमी और सेवाभावी व्यक्ति की कुछ पूछ नहीं होती। इसलिए हरेक आदमी जैसे भी हो, धनवान बनने का प्रयत्न करता है। वह पैसे के चक्र में पड़ा रहता है। वह किसी काम का उसकी उपयोगिता की दृष्टि से विचार नहीं करता, वह तो उसका मूल्य पैसे में आंकता है। वह आज एक संस्था में काम करता है, कल दूसरी संस्था में अधिक आमदनी का निश्चय होने पर वह झट उस दूसरी संस्था में काम करना स्वीकार करता है। उसका स्वयं का सिद्धान्त नहीं, जिस काम में ज्यादा पैसा मिले, उसे ही करने के लिए वह तैयार रहता है। अनेक आदमी पैसे के लोभ में अपना धर्म छोड़ते पाये जाते हैं। वास्तव में धन-निष्ठ व्यक्ति का कोई धर्म या सिद्धांत नहीं, उसका पैसा ही धर्म, और पैसा ही सिद्धान्त है। जब आदमी धन जोड़ने लगता है तो वह दिनरात उसी की फिक्र में रहता है, दिन रात, सोते जागते वह 'निन्यानवे के फेर में' पड़ा रहता है। वह अनेक बार अपने स्वास्थ्य की भी अवहेलना करता है और पैसा पैदा करने की धुन में अपने आवश्यक विश्राम में भी कमी करता है और रात को बड़ी देर तक जागता रहता है; खाने का काम हो या सोने का, उसे शान्ति नहीं मिलती। इस प्रकार धन-निष्ठ समाज में लोगों का शारीरिक, मानसिक और नैतिक पतन बढ़ता जाता है।

घोर विषमता और अमानुषिकता—धननिष्ठ समाज में समानता और बंधुत्व की बात निरी कल्पना है। जब कि पैसे के बलपर आदमी दूसरे को खरीद सकता है, तो कुछ आदमी दूसरों को खरीदने की

क्षमता रखते हैं, और बहुत से आदमी बिकने के लिये तैयार रहते हैं; एक खरीददार होता है, दूसरा खरीद-बेच की वस्तु। ऐसी दशा में विषमता और अमानुषिकता का क्या ठिकाना! 'पैसे के कारण हर जगह आदमियत की भावना लुप्त हो गयी है और लालच बढ़ गया है। लालच की इस वृत्ति ने सब मानवी मूल्यों को गिरा दिया है; बिना पैसे के लोग खरीदे जा सकने वाले चलते-फिरते मंत्र बन गये हैं और पैसे वाले समाज को खा डालने वाले राक्षस[1]। जो आदमी दूसरों को खरीदने की क्षमता रखने के कारण अपने आप को कुछ बड़ा आदमी मानने का अभिमान करते हैं, वे भी एक प्रकार से पैसे के दास ही हैं; कारण, उन्हें अधिकाधिक पैसा प्राप्त करने की लालसा रहती है। यदि यह लालसा न हो तो वे अपने किसी भाई को खरीदने का अमानुषिक कर्म करने का विचार ही न करें।

मानवता की रक्षा के लिए समाज को श्रमनिष्ठ होने की आवश्यकता—इन बातों से स्पष्ट है कि मानव समाज का यदि उसकी मानवता की रक्षा अभीष्ट है—धननिष्ट होना सर्वथा अनुचित है। यदि मानवी मूल्यों की फिर से स्थापना करनी है तो समाज से पैसे की प्रभुता हटानी होगी। पैसे को जो उच्च स्थान, पद या प्रतिष्ठा दे दी गयी है, वह दूर करनी होगी। समाज को धननिष्ट की जगह श्रमनिष्ठ बनना होगा। आदमी की स्थिति या हैसियत पैसे के आधार पर न मान कर उस दृष्टि से सोची जायगी कि वह कितना श्रम करता है, और उसके श्रम से समाज का कितना हित होता है। शरीर-श्रम से काम करने वाले के पास अधिक धन का संग्रह होता ही नहीं है, जो आर्थिक विषमता और अमानुषिकता पैदा करने वाला है।।

समाज के श्रमनिष्ठ होने से ही सच्चा स्वराज्य—वास्तविक लोकतंत्र या सच्चा स्वराज्य धननिष्ठ समाज में सम्भव नहीं है, वह

[1] श्री एन० एस० शिवसुब्रह्मण्यन; 'ग्राम राज' १ जून ५३

तो श्रमनिष्ठ समाज में ही हो सकता है। जैसा कि धीरेन भाई ने कहा है, 'अगर जनता की आर्थिक जिन्दगी पूँजी पर आश्रित हो, तो जिसके कब्जे में पूँजी रहेगी, उसी के कब्जे में लोगों की जान रहेगी। अगर पूँजी पूँजीपति के हाथ में होगी तो वह एक वर्ग की तानाशाही होगी। और अगर उसका राष्ट्रीयकरण हो तो एक-दलीय तानाशाही प्रतिष्ठित होगी। तानाशाही चाहे जिस नमूने की हो, वह लोकशाही नहीं होगी, यानी वह स्वराज्य नहीं होगा। यही कारण है कि महात्मा गाँधी हमेशा विकेन्द्रित और स्वावलम्बी उद्योगों की बात करते थे। वे चाहते थे कि जनता के जीवन के मूल साधन पूँजी पर आश्रित न होकर श्रम पर आश्रित हों, यानी सारे उत्पादन के साधन उन्हीं के हाथ में रहें, जो उन साधनों पर स्वयं श्रम करते रहें।'[१]

समानता और बंधुत्व भी श्रमनिष्ठ समाज में ही सम्भव हैं—पहले कहा गया है कि धन-निष्ठ समाज में घोर विषमता और अमानुषिकता होती है। यदि हम इससे बचना चाहते हैं तो समाज को श्रमनिष्ठ बनाना अनिवार्य है। शरीर-श्रम से उत्पादन करने वालों में अन्तर बहुत परिमित ही होता है। एक आदमी दूसरे से कुछ अधिक उत्पादन कर सकता है, पर बीस-तीस या अधिक गुना नहीं। इसके विपरीत, धन-निष्ठ समाज में तो आदमी अपनी बुद्धि का उपयोग अपने स्वार्थ-साधन में लगा कर, तथा दूसरे आदमियों का श्रम खरीद कर औसत आदमी से कितने गुना कमायेगा, इसकी कोई सीमा ही नहीं। एक-एक धनवान पूँजीपति एक दिन में हजारों रुपये पैदा कर सकता है, और करता है, जबकि साधारण मजदूर को एक दिन में तीन चार रुपये या इससे भी कम मिलते हैं। फिर, श्रमनिष्ठ समाज में यदि दो श्रमियों की आय में कुछ अन्तर भी होता है, तो उनमें लोभ की वृत्ति न होने से वे उसके खर्च में लोकहित की भावना रखते

१ युग की महान चुनौती।

हैं, और उनकी बचत लोकसेवा के कार्य में ही काम आती है। इस प्रकार उनके व्यवहार में समानता और बंधुत्व होना स्वाभाविक ही है।

विशेष वक्तव्य—प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए शरीर-श्रम को प्रतिष्ठा दे और उसे बौद्धिक श्रम से किसी प्रकार कम महत्व न दे, जहाँ तक सम्भव हो बौद्धिक श्रम को लोकसेवा में लगाये, अथवा कम से कम उसे अपने स्वार्थ-साधन और दूसरों का शोषण करने में तो कदापि न लगाये। गांधी जी ने कहा है 'किसी स्वस्थ समाज के अन्दर चन्द आदमियों में धन का केन्द्रित हो जाना और लाखों का बेकार होना एक भयंकर सामाजिक रोग है, जिसका तुरन्त इलाज होना चाहिए। आज श्रमजीवियों को अपनी प्रतिष्ठा पहचाननी चाहिए। श्रम की प्रतिष्ठा पहचानते ही धन अपने उचित स्थान पर आजायगा। धन से श्रम का मूल्य निश्चय ही अधिक है।'



नवाँ अध्याय

समाज में कोई भेदभाव नहीं

सत्य, दान, क्षमा, शील, नम्रता, तप और दया जिसमें भी मिलें, वह ब्राह्मण हैं। यदि ये चिन्ह शूद्र में हों और द्विज में न हों तो वह शूद्र शूद्र नहीं, न वह ब्राह्मण ब्राह्मण है।

—महाभारत

रंग के पर्दे को अलग करके हमें अपने भाई मनुष्य के मन और हृदय तक पहुँचना चाहिए। इस तरह देखने पर न कोई आर्य मालूम होगा, न अनार्य, न यहूदी, न मंगोल, न हब्शी। सब आदमी हैं, सब स्त्रियाँ हैं, सब की एक जाति है—मानव जाति।

—हरदयाल

तुम देश का शासन कर सकते हो, मैं पुराने जूतों की मरम्मत कर सकता हूँ। लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं होता कि तुम मुझसे बड़े हो, कारण तुम मेरे जूतों की मरम्मत नहीं कर सकते। मैं जूतों की मरम्मत करने में कुशल हूँ, तुम वेदों को पढ़ और समझ सकते हो, लेकिन यह कोई कारण नहीं कि तुम मेरे सिर पर पांव रखो।

—विवेकानन्द

वर्तमान समाज में ऊँच-नीच या बड़े-छोटे की भावना बहुत पायी जाती है; कहीं जाति-भेद या वंश-भेद के कारण, कहीं रंग-भेद के कारण, कहीं आर्थिक स्थिति की भिन्नता के कारण, कहीं धार्मिक विचारों के अन्तर के कारण और कहीं पेशों या पदों के जुदा-जुदा होने

के कारण। इनमें धार्मिक तथा आर्थिक कारणों से होने वाले भेद-भाव का विचार अन्यत्र किया गया है, यहाँ जाति-भेद और रंग-भेद का विचार करना है।

[१]

जाति-भेद

जाति-भेद से अनिष्ट—भारत में जाति-भेद खासकर हिन्दुओं में है। यह माना जाता है कि इसका मूल आधार आरम्भ में श्रम-विभाग या गुण-कर्म था। इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र के अलग-अलग कर्म बताये गये हैं। पीछे इन चार जातियों में गुण-कर्म की बात तो गौण पड़ गयी, जन्म या वंश-परम्परा का विचार मुख्य हो गया। इस प्रकार अब ब्राह्मण का लड़का ब्राह्मण ही माना जाता है, चाहे वह निरा निरक्षर हो, और मेहनत मजदूरी करके अपना निर्वाह करता हो। क्षत्रीय की संतान निर्बल और कायर होने पर भी क्षत्रीय, और वैश्य की संतान व्यापार की कुछ भी जानकारी न रखने पर भी वैश्य ही मानी जाती है। इसी प्रकार शूद्र की सन्तान विद्वान और शिक्षित होने पर भी शूद्र ही कही जाती है। इसके अलावा अब इनमें से प्रत्येक जाति के अनेक भेद हो गये हैं, यहाँ तक कि इनकी संख्या कई सौ ही नहीं, हजारों है।

जाति-भेद से अनर्थ यह हुआ कि बौद्धिक कार्य करने वालों को—पुरोहित, अध्यापक, महन्त, पुजारी, व्यापारी, महाजन (लेन-देन करने वाले) को—ऊंचा, प्रतिष्ठित और आदरणीय मान लिया गया। इसके विपरीत, शरीर-श्रम करने वालों को—बढ़ई, लुहार, दर्जी, कुम्हार, धोबी, नाई, चमार और मेहतर आदि को—नीच ठहरा दिया गया। इस प्रकार समाज अनेक टुकड़ों में विभक्त हो गया, हाथ-पाँव न हिलाने वाले, बहुत-कुछ आरामतलबी और मुफ्तखोरी करने वालों को

प्रोत्साहन मिल गया और कठोर शरीर-श्रम का अनादर और अवहेलना हो गयी।

अस्पृश्यता का कलंक—यह सामाजिक भेद-भाव यहाँ तक बढ़ा कि लाखों नहीं, करोड़ों आदमियों को जन्म-जन्मांतर के लिए नीच और अछूत ठहरा दिया गया। वे कितना ही प्रयत्न करें, समाज में उनका पद नीचा ही रहने वाला ठहरा, उनके उत्थान का मार्ग बन्द कर दिया गया। आश्चर्य और दुख का विषय यह कि ऐसी 'व्यवस्था' को धर्म-ग्रन्थों में स्थान दे कर उसे स्थायी और अकाट्य ठहरा दिया गया।

अस्पृश्यता ने हिन्दुओं के दो जुदा-जुदा हिस्से कर दिये हैं, जिनका एक-दूसरे से खानपान, और विवाह-सम्बन्ध तो होता ही नहीं, आपस में मिल कर बैठने-उठने और सामाजिक कार्यों में भाग लेना भी नहीं बनता। जो हिन्दू समाज अपनी प्राचीनता, दार्शनिकता, सभ्यता और संस्कृति का इतना अभिमान करे, उसका अपने ही आदमियों से यह व्यवहार! अस्पृश्यता के रहते सर्वोदय की बात करना निरा उपहास है।

अस्पृश्यता-निवारण के प्रयत्न—समय-समय पर, एक-दूसरे के दुख को अपना समझने वाले साधु-महात्माओं ने इस हृदय-विदारक प्रथा के विरुद्ध आवाज उठायी, पर उनका प्रयत्न प्रायः उनके व्यक्तिगत आचरण तक ही सीमित रहा। खासकर पिछली शताब्दी के सुधारकों ने इसे समाज से हटाने की ओर ध्यान दिया। कई आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। विशेषतया गाँधी जी के प्रयत्न से अस्पृश्यता-निवारण राष्ट्रीय कार्य-क्रम का एक अंग बना और भारत के स्वतंत्र हो जाने पर तो इस विषय का कानून भी बन गया। अब सार्वजनिक क्षेत्र में किसी व्यक्ति का दूसरे को अस्पृश्य मानना या इस आधार पर उससे किसी प्रकार हीनता-सूचक व्यवहार करना अपराध माना जाता है, और उसके लिए दण्ड निर्धारित है।

यह होते हुए भी, समाज से अस्पृश्यता हट गयी—यह नहीं कहा जा सकता। इसने लोगों के मन में जड़ पकड़ रखी है। इसलिए लाचारी से जिस सीमा तक इसका विचार हटाना पड़ता है, वहाँ तक ही इसे हटा हुआ समझिये। पर जहाँ वश चलता है, अर्थात् अपनी इच्छानुसार व्यवहार करना होता है, प्रायः अच्छे-अच्छे आदमी भी इसे चिपटाए हुए हैं। कोई अपने घर में उन्हें नौकर रखना, उनके हाथ का छुआ भोजन करना या उनसे यथेष्ट सम्पर्क रखना नहीं चाहता। शहरों की अपेक्षा गाँवों में, और पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अस्पृश्यता की भावना बहुत गहरी है। इसलिए इन क्षेत्रों में विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है।

व्यावहारिक कठिनाइयाँ और उनका हल—यह कहा जाता है कि अस्पृश्यता हट जाने पर मैला उठाने और नालियाँ साफ करने का काम कैसे होगा। यह कठिनाई बहुत भारी और असाध्य प्रतीत होती है, पर यदि यह निश्चय कर लिया जाय कि समाज को अस्पृश्यता के कलंक से मुक्त करना है तो इसका हल निकल ही सकता है। कुछ बड़े शहरों में फ्लश का तरीका काम में लाया जाता है, जिससे मैला एक दम जमीन के नीचे-नीचे बह जाता है, कहीं-कहीं विशेष वैज्ञानिक पद्धति से ऐसे गड्ढे बनाये जाते हैं जिनमें कुछ दिन तक मैला इकट्ठा होकर खाद बनता जाता है; बदबू नहीं होती। एक गड्ढा भर जाने पर ऐसे दूसरे गड्ढे का उपयोग किया जाता है। शहरों में इन तरीकों का व्यापक उपयोग किया जाना चाहिए। और जब तक कहीं इन्हें जारी न किया जा सके तब तक वहाँ सफ़ाई का काम जितना सरल और सुविधाजनक हो सके उसका प्रयत्न तो किया ही जाना चाहिए। गाँवों और कस्बों में खाई के पाखाने बनवाये जायं और लोगों को उनको इस्तेमाल करने की प्रेरणा दी जाय, जिससे गाँवों में गन्दगी भी न रहे और खेती के लिए बढ़िया खाद काफी बड़े परिमाण में बिना मूल्य मिलता रहे।

ऐसी ही एक समस्या मरे हुए जानवरों को उठाने, उनका चमड़ा, चर्बी और हड्डियाँ आदि अलग करने और चमड़ा रंगने आदि की है। यह भी कोई असाध्य समस्या नहीं है। अभी देश में ऐसी बातों का यथेष्ट विचार ही नहीं किया जाता। यह समझ लिया जाता है कि यह कार्य हरिजनों के करने का है और वे ही इसे करते रहेंगे। यदि हम एक बार इस समस्या को तथा ऐसी अन्य समस्याओं को हल करने के लिए मानवीय उपायों को ही काम में लाने की ठान लें तो वैसे उपाय अवश्य ही निकल आएँगे, इसमें संशय नहीं। आज कल विज्ञान से हम कितना काम ले रहे हैं। उसकी सहायता हमें इस दिशा में लेनी चाहिए। उससे समाज को अनिष्टकारी प्रथा और बन्धनों से अवश्य मुक्ति मिलेगी।

यथेष्ट दृष्टिकोण और योजना की आवश्यकता—हमें सोचना चाहिए कि यदि कोई कार्य समाज के लिए किया जाना आवश्यक है तो उसके करने की पद्धति में यथेष्ट सुधार और संशोधन होता रहे। जो काम उपयोगी होने पर भी बहुत कठिन, अरुचिकर या जल्दी थका देने वाला हो, उसे करने की जिम्मेवारी किसी खास समूह पर न डाली जानी चाहिए, उसे सभी आदमी मिलजुल करें, जो आदमी उसे करें, उनका दूसरों को कृतज्ञ होना चाहिए, और इसके फल-स्वरूप उन्हें यथेष्ट आदर-मान और समुचित पारिश्रमिक मिलना चाहिए, जिससे वह काम दूसरों के लिए भी आकर्षक हो। सर्वसाधारण की ऐसी दृष्टि होने से हरिजनों को दैनिक जीवन की आवश्यक वस्तुएँ सुलभ होंगी, वे अपनी शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की ओर समुचित ध्यान दे सकेंगे, और अन्त में वे समाज का एक अलग हिस्सा न होकर सब में मिले-जुले होंगे और भारतीय समाज की शक्ति और योग्यता बढ़ाने वाले सिद्ध होंगे। निदान, यथेष्ट दृष्टिकोण और योजना होने से अस्पृश्यता की समस्या अवश्य ही समाप्त हो कर रहेगी।

[२]

रंग-भेद

रंग-भेद का कारण; जलवायु—संसार में आदमियों का तरह तरह का रंग देखने में आता है। कुछ आदमियों का मुख्य रंग तो एक ही है, पर उसकी गहराई में अन्तर है, उदाहरण के लिए कोई कुछ कम काला है, दूसरा उससे अधिक, और तीसरा दूसरे से भी अधिक; यहाँ तक कि एक आदमी का रंग दूसरे से अलग पहचाना जाता है। यह तो एक ही रंग वालों की बात हुई। इसके अलावा आदमियों के रंग एक-दूसरे से बिलकुल जुदा भी हैं। कोई काला है, कोई पीला, कोई गोरा और कोई गेहुंआ आदि। यह जो रंग का अन्तर है, इसका मुख्य कारण उन मनुष्यों के निवास-स्थानों की जलवायु की भिन्नता है। एक प्रदेश के आदमी जब कई पीढ़ियों तक उसी प्रदेश में या उस जैसे जलवायु वाले प्रदेश में रहते हैं तो उनका रंग एक खास तरह का हो जाता है, और वह दूसरे जलवायु वाले प्रदेशों के आदमियों के रंग से जुदा होता है।

रंग-भेद होते हुए भी मनुष्य जाति की एकता—रंगों का यह भेद संयोग से हो गया। कुछ मनुष्यों का निवास कई पीढ़ियों तक, हजारों वर्ष, एक विशेष जलवायु वाले प्रदेश में रहा, वे एक खास रंग के हो गये। दूसरे आदमियों का निवास हजारों वर्ष दूसरे प्रकार के जलवायु वाले प्रदेश में हुआ, वे दूसरे रंग के हो गये। प्राकृतिक संयोग से होने वाली इस भिन्नता के धोखे में आकर हमें यह न भूलना चाहिए कि मनुष्य जाति वास्तव में एक है। चाहे किसी भी रंग के हों, सब आदमी एक ढंग से पैदा होते हैं, एकसे वातावरण में रहने पर सब एक ही प्रकार से बोलते हैं, सब में थोड़ा-बहुत सोचने का गुण है, सब आदमी किसी न किसी प्रकार के समूह में रहते हैं और

सामाजिक जीवन बिताते हैं, सब आदमी थोड़े-बहुत विकसित या अविकसित औजारों से काम लेते हैं, सब को समान बातों से कम या ज्यादा सुख-दुख होता है, सब कुछ न कुछ भूतकाल की बातों का विचार करते हैं, सब की दृष्टि, थोड़ी या बहुत, भविष्य की ओर रहती है, सब में अपने-अपने ढंग से आत्म-रक्षा और संतान-वृद्धि तथा प्रसिद्धि प्राप्त करने की भावना होती है, सब में काम, क्रोध, लोभ, मोह की और आहार निद्रा भय और मैथुन की प्रवृत्ति—वह चाहे जितनी कम और चाहे जितनी अधिक हो—होती है, तथा सब में प्रेम, सहानभूति, दया, सहयोग आदि गुण भी, बीज रूप से ही सही, होते अवश्य हैं। इस प्रकार मनुष्य जाति की एकता से इनकार नहीं किया जा सकता।

रंग-भेद का अभिमान विनाशकारी—दुर्भाग्य से अनेक आदमियों ने इस सच्चाई की उपेक्षा की। उन्होंने एक खास रंग का होने के कारण अपने को दूसरे रंग वालों से श्रेष्ठ और ऊँचे दर्जे का मान लिया। इससे संसार में घोर अनिष्ट और अत्याचार हुआ है। गौरांग जातियों ने अपने उद्योग धंधों और व्यापार की उन्नति के लिए रंगदार जातियों से कैसा अमानवीय व्यवहार किया—अनेक स्थानों में उनकी सभ्यता, संस्कृति और आजादी को ही नष्ट नहीं किया, उन जातियों को ही पृथ्वी-तल से हटाने का आयोजन किया—यह इतिहास के पृष्ठों में अच्छी तरह अंकित है।* अब भी, गौरांग जातियों का अपनी श्रेष्ठता का अभिमान दूर नहीं हुआ है। सभ्यता का दम भरने वाले यूरोप और अमरीका में इसके अनेक प्रमाण आये दिन मिलते रहते हैं—अनेक होटलों में, सिनेमा और नाटकघरों आदि में, रंगदार आदमियों को 'अस्पृश्य' माना जाता है, उन्हें वहाँ इसलिए जगह नहीं दी जाती कि मेनेजरों को भय होता है कि ऐसा करने से गौरांग ग्राहक

*इस विषय पर हमारी 'विश्व-संघ की ओर' पुस्तक में विशेष प्रकाश डाला गया है।

नाराज हो जायँगे। दक्षिण अफ्रीका में तो भारतीयों तथा अफ्रीका के मूल निवासियों के प्रति गौरांग जो व्यवहार करते हैं, वह ऐसी बड़ी विकट समस्या है कि उसके विश्वव्यापी रूप धारण करने की आशंका है। इस प्रकार रंग-भेद-नीति संसार में जगह-जगह अशान्ति पैदा करती और बढ़ाती है।

हमारा लक्ष्य, सामाजिक समानता—मानवता का तकाजा है कि आदमी जाति-भेद और रंग-भेद आदि की भावना दूर करे। इसी तरह अन्य प्रकार की भी विषमताओं को हटा कर हमें समाज में समानता लाना है। समानता का यह अर्थ नहीं कि आदमी अपने कार्य को छोड़कर दूसरे ऐसे कामों को करने के लिए दौड़े, जिन्हें करने की उसमें योग्यता या क्षमता नहीं है; उदाहरण के लिए एक भंगी अपनी झाड़ू फेंककर राष्ट्रपति के आसन पर बैठे और आवश्यक कागजों पर हस्ताक्षर करने लग जाय। काम तो हर एक आदमी को अपना-अपना ही करना है। पर उनके कामों के जुदा-जुदा होने से उनके सामाजिक पद-मर्यादा में विशेष अन्तर न आना चाहिए। यह नहीं होना चाहिए कि सार्वजनिक कार्यक्रम में राष्ट्रपति के लिए तो विशेष प्रकार के सिंहासन की व्यवस्था हो, और कई आदमी उसकी शोभा बढ़ाने के वास्ते चारों ओर खड़े किये जायँ; पर भंगी को वहाँ बैठने को कोई जगह ही न दी जाय, या उसे दूर एक कोने में खड़ा रहने को कहा जाय। यही बात किसी पूँजीपति, सेठ या साहूकार का और एक मजदूर का उदाहरण लेकर समझी जा सकती है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति को, जो अपना जीवन-यापन परिश्रम और ईमानदारी से, लोकहित की दृष्टि से, करता है, यथेष्ट आदर-मान मिलना चाहिए।

विशेष वक्तव्य; आत्मीयता के विस्तार की आवश्यकता—प्रत्येक पुरुष स्त्री को चाहिए कि वह गंभीरता पूर्वक विचार करे कि मैं

एक मनुष्य हूँ और इस नाते दूसरे मनुष्यों से मेरी सहजातीयता है। मैं मनुष्य जाति का अंग हूँ, विशाल मानव परिवार का सदस्य हूँ। मुझे सबसे प्रेम और सेवा का व्यवहार करना चाहिए। किसी व्यक्ति का रंग, वंश आर्थिक स्थिति या धार्मिक विचार आदि मुझसे भिन्न होने मात्र से वह मेरे विशाल परिवार से बाहर नहीं। हम सब पृथ्वी माता की संतान हैं, इसलिए आपस में भाई बहिन हैं। जीवन का कोई न कोई तार मुझ में और दूसरों में समान रूप से पिरोया हुआ है। मेरी शक्ति, बुद्धि और योग्यता का उपयोग मेरे स्वार्थ-साधन में न होकर सब के हित में, सर्वोदय में होना चाहिए। फिर भेद-भाव की बात ही क्या !

दूसरा खंड

समाज-रचना की पद्धति

हमें मनुष्य का हृदय बदलना है, नये मानव का निर्माण करना है। यही क्रान्ति है। हृदय-परिवर्तन इसलिए सम्भव है कि हम सब एक हैं, एक ही परमात्मा के कण हैं। मनुष्य स्वभावतः अच्छा है, बुरा नहीं। यदि वह बुरा होता, तो बुरे आदमी को ही पूजता, पर वह अच्छे को ही पूजता है और उसके सामने उसका सिर झुकता है।

सर्वोदय में सब का भला होगा, सब सुखी होंगे, ऊँच-नीच का भेद न होगा, न्याय होगा, शोषक न होंगे और समता होगी। यह समाज ऐसा होगा, जिसमें सत्ता जनता के हाथ में होगी और वही उसका संचालन करेगी। केन्द्रीय शासन या तो न होगा, या यदि होगा भी तो बहुत कम। जीवन से सम्बन्धित अधिकांश विषयों का शासन गांव के द्वारा होगा, उससे कम जिले के द्वारा, उससे भी कम प्रान्त के द्वारा, और सब से कम केन्द्र के द्वारा। सत्ता भी इसी मात्रा और क्रम में विभिन्न क्षेत्रों में रहेगी। यह सब शोषण-विहीन समाज में ही हो सकता है, ऐसे समाज में, जिसमें केवल आर्थिक शोषण ही नहीं, बल्कि किसी तरह का शोषण न हो।

—जयप्रकाशनारायण

दसवां अध्याय

क्रान्ति का सही अर्थ

हमें सारा समाज ही बदलना है, और वह अहिंसक क्रान्ति के जरिए ही बदलना है।

—विनोवा

बदल गये आदर्श पुराने धर्म और जीवन के,
बदल गये सिद्धान्त पुराने तर्क और दर्शन के।
बदल गये आधार पुराने चिन्तन और मनन के,
बदल गये अनुमान पुराने उन्नति और पतन के॥

—निरंकारदेव सेवक

इस खंड में हमें भावी समाज-रचना का विचार करना है। समाज-रचना का क्रान्ति से घनिष्ठ या अनिवार्य सम्बन्ध होने से यहाँ पहले क्रान्ति के विषय में लिखा जाता है।

क्रान्ति की बात—संसार के विविध देशों में समय-समय पर क्रान्ति की आवाज उठती है। पराधीन देशों में राजनैतिक क्रान्ति की आवश्यकता समझी जाती है। जिन देशों की माली हालत गिरी हुई होती है, वहाँ आर्थिक क्रान्ति की माँग होती है। जब अन्ध-विश्वासों और कुरीतियों का बोलबाला होता है तो धार्मिक और सामाजिक क्रान्तियों की बात सामने आती है। भारतवर्ष स्वाधीन हो गया है, तथापि यहाँ विविध क्षेत्रों में आमूल परिवर्तनों की जरूरत बनी हुई है। चहुँ ओर क्रान्ति की आवश्यकता है। आदमी अपने-अपने ढंग से क्रान्ति की बात सोचते हैं। हम विचार करें कि क्रान्ति का साधारणतया क्या अर्थ लिया जाता है, और वास्तव में इसका अर्थ क्या होता है।

क्रान्ति का साधारण प्रचलित अर्थ—साधारण व्यवहार में क्रान्ति का अर्थ बहुत बड़ी हिंसा अर्थात् खून-खराबी समझा जाता है, जिसका उद्देश्य आर्थिक या राजनैतिक परिवर्तन करना हो। जब किसी देश में ऐसी घटना होती है, तो कहा जाता है कि वहाँ बड़ी क्रान्ति हुई। उस घटना के सूत्रधारों को महान् क्रान्तिकारी माना जाता है। इस प्रकार आधुनिक युग की क्रांतियों के उदाहरण-स्वरूप फ्रांस की क्रांति जर्मनी की क्रांति, इटली की क्रांति तथा रूस की क्रान्ति है, जिनके प्रवर्तक नेपोलियन, हिटलर, मुसोलिनी और लैनिन थे। परन्तु यह क्रान्ति का बहुत सीमित अर्थ है, वरन् कहना चाहिए कि यह भ्रमात्मक और त्रुटिपूर्ण अर्थ है। क्रान्ति के लिए हिंसक होना आवश्यक नहीं है; वह तो कुछ स्थायी और सफल ही तब होती है, जब उसका आधार अहिंसा हो। इसके अतिरिक्त क्रान्ति का उद्देश्य केवल आर्थिक या राजनैतिक न होकर सामाजिक, धार्मिक आदि भी हो सकता है।

क्रान्ति का सही अर्थ—वास्तव में क्रान्ति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हो सकती है। क्रान्ति का सही अर्थ है, जीवन में मूल्यों का परिवर्तन। आज हम एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण रखते हैं, कुछ विशेष-विशेष व्यवहारों को अच्छा मानते हैं, उनमें अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं। यदि कल इन बातों में परिवर्तन हो जाय, हमारे मूल्य-माप बदल जायँ, अच्छे-बुरे, शोभनीय-अशोभनीय, सुन्दर-असुन्दर या कुरूप, महान्-तुच्छ, पुण्य-पाप, इष्ट-अनिष्ट की धारणाओं में दूसरा दृष्टिकोण हो जाय—तो इसका नाम क्रान्ति ही है, चाहे इसके लिए हिंसक अस्त्रों का कुछ भी उपयोग न हुआ हो, और सब प्रकार के रक्तपात से परहेज किया गया हो।

गौतम बुद्ध का उदाहरण—भारतीय इतिहास के पाठक जानते हैं कि गौतम बुद्ध के आगमन से पहले यहाँ मानसिक दासता के बन्धन दृढ़ हो गये थे, जाति-पांति का भेद बेहद बढ़ गया था। 'ऊँची'

जाति में जन्म लेने वाले दुष्कर्म और दुराचार तथा भोग विलास करते हुए भी ऊँचे माने जाते थे, और 'नीची' जाति वाले सात्विक, परिश्रमशील और सेवामय जीवन बिताते हुए भी सामाजिक प्रतिष्ठा से वंचित रहते थे, वरन् तरह-तरह की ज्यादतियों के शिकार होते रहते थे। यज्ञों में पशु-बलि विकराल और वीभत्स रूप में होती थी, अधिक से अधिक पशुओं को मौत के घाट उतारना बड़े गौरव की बात मानी जाती थी। ऐसी परिस्थिति में गौतम बुद्ध ने जनता को यह संदेश दिया कि जाति-पांति से कोई ऊँच-नीच नहीं, ये कृत्रिम भेद-भाव मान्य नहीं। ऊँचा बनने के लिए मनुष्य का कार्य ऊँचे दर्जे का होना चाहिए, हमारे जीवन में सचाई, पवित्रता और दया-भाव होना चाहिए। भोले-भाले जीव भी हमारी दया और प्रेम के अधिकारी हैं। अपने स्वार्थ या स्वाद के लिए पशु-पक्षियों की हत्या करना अनुचित है। धर्म के नाम पर भी बलि या कुर्बानी करना ठीक नहीं। जिन यज्ञों में हिंसा होती है, वे धर्म के कार्य न हो कर अधर्म के कार्य हैं। जनता ने इस महान् संदेश को सुना, लोगों का दृष्टिकोण और जीवन-व्यवहार बदला। यह उस समय की महान् क्रान्ति थी—ऐसी क्रान्ति जो हजारों वर्षों बाद देखने में आयी। और, यह क्रान्ति अहिंसक थी, इस क्रान्ति ने तो जनता को यह वाक्य ही दिया—'अहिंसा परमो धर्मः।'

हमारे युग की महान् क्रान्ति; गाँधी जी की देन—समय-समय पर संसार के विविध देशों में छोटी-बड़ी अनेक क्रान्तियाँ होती रही हैं। भारत ने भी समयानुसार विविध क्रान्तियाँ देखी। स्वयं हमारे जीवन-काल में महान् क्रान्ति—जीवन के मूल्यों का परिवर्तन—हुई है, उसके सूत्रधार गाँधी जी थे। उनके सामने अनेक कार्य थे। पर उन्हें विशेष ध्यान भारत की राजनैतिक स्वाधीनता की ओर देना पड़ा, जिससे देशोद्धार में उपस्थित अन्य बाधाओं को दूर करने का मार्ग

प्रशस्त हो। ऐसे कार्य के लिए हिंसा उचित ही नहीं, अनिवार्य मानी जाती रही है। विदेशी आक्रमणकारियों या शासकों से हिंसक युद्ध ठानना साधारण नीति रही है। गाँधी जी ने नयी विचारधारा उपस्थित की। उन्होंने बताया कि स्वाधीनता-प्राप्ति एक शुभ कार्य है तो इसके लिए काम में लाये जाने वाले साधन शुभ ही होने चाहिए, हिंसा को उसमें स्थान नहीं मिलना चाहिए। यह बात विचित्र और अविश्वस-नीय मालूम होती थी। परन्तु गाँधी जी दृढ़ रहे और सत्य तथा अहिंसा के जिन गुणों का उपयोग मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन तक सीमित रखते थे, उनका उपयोग सामूहिक या राष्ट्रीय उद्देश्य की प्राप्ति में उन्होंने कर दिखाया।

गाँधी जी ने भारतीय जीवन के कितने ही भागों में पुराने विचार बदलने और नये मूल्य स्थापित करने का प्रयत्न किया—(१) अस्पृश्यता कोई धर्म का लक्षण न हो कर महापाप है, उसे दूर करना आवश्यक है; (२) किसी मनुष्य का किसी सम्पत्ति को अपनी मिल्कियत मानना गलत है। वह केवल उसका संरक्षक रह सकता है। उसे चाहिए कि सम्पत्ति का उपयोग समाज के हित के लिए ही करे; (३) शरीर-श्रम की यथेष्ट प्रतिष्ठा रहे, आदमी को अपने निर्वाह के लिए शरीर-श्रम करना चाहिए, बौद्धिक श्रम का उपयोग लोक-सेवा में हो; शरीर-श्रम और बौद्धिक श्रम में विषमता-सूचक खाई न हो; (४) मशीन और यन्त्रों का उपयोग केवल विशेष और अनिवार्य दशाओं में ही हो, वे मनुष्य के नियन्त्रण में रहें; ऐसा न हो कि वे मनुष्य पर हावी हो जायँ, और उनका उपयोग दूसरों का शोषण करने के लिए हो। (५) आर्थिक व्यवस्था का लक्ष्य मनुष्य का हित हो, उत्पादन नहीं; सब व्यक्तियों को काम मिले और समाज में समानता हो, इस दृष्टि से ग्रामोद्योगों को प्रमुख स्थान दिया जाय; (६) सभ्यता की कसौटी भौतिक आवश्यकताओं की वृद्धि नहीं, संयम और सेवा है; इत्यादि।

विशेष वक्तव्य—इन विविध उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए गाँधी जी ने अहिंसा का आग्रह रखा। पूँजीवाद को बुरा मानते हुए भी उन्होंने पूँजीपतियों के प्रति किसी प्रकार की हिंसक भावना न रखो। देश में कितने ही व्यक्तियों का मत होता है कि पूँजीपतियों को समाप्त कर दिया जाय, यदि वे अपनी पूँजी पर से प्रसन्नतापूर्वक अपना अधिकार नहीं हटाते तो उन्हें मौत के घाट उतारा जाय या आजीवन जेल में डाल दिया जाय। परन्तु गाँधी जी ने समझाया कि ऐसा करने से पूँजीवाद का अन्त न होगा; वर्तमान पूँजीपतियों की जगह दूसरे पूँजीपति आ जायँगे और पूँजीवाद की परम्परा को बनाये रखने का प्रयत्न करेंगे, भले ही वे उसे नया रूप दे दें। पूँजीवाद का अन्त करने के लिए हमें लोगों के मन में यह धारणा वैठानी है कि पूँजी समाज के सहयोग बिना उपार्जित नहीं होती, इसलिए उसका उपयोग समाज के हित में ही किया जाना चाहिए। जो आदमी अपनी आवश्यकता (जिसका निर्णय समाज की तत्कालीन परिस्थिति का विचार करके होना चाहिए) से अधिक द्रव्य रखता और उसका अपने लिए उपयोग करता है, वह समाज की दृष्टि में चोर समझा जाना चाहिए, उसे प्रतिष्ठा न मिल कर अप्रतिष्ठा ही मिलनी चाहिए।

जीवन-मूल्यों में इस प्रकार का परिवर्तन होना ही वास्तविक क्रान्ति है। अहिंसा द्वारा यह कार्य धीरे-धीरे होता है तथापि यह धैर्य-पूर्वक किया जाना चाहिए। हिंसा द्वारा हम जल्दी क्रान्ति कर सकते हैं—यह धारणा गलत है; उसकी दिखायी देने वाली क्षणिक सफलता के धोखे में न आना चाहिए।

ग्यारहवां अध्याय

क्रान्ति हिंसा से नहीं, अहिंसा से

क्रान्ति पहले दिलों में होती है, फिर समाज में। जहाँ दिलों में क्रान्ति नहीं होती, बल्कि क्रान्ति लादी जाती है और हिंसा से क्रान्ति होती है, वहाँ वास्तव में क्रान्ति होती ही नहीं।

—विनोबा

क्रान्ति जनता द्वारा होती है, न कि सरकारों द्वारा। सरकारें तो जनता का अनुकरण करती हैं और जनता जो कुछ करती है, उस पर अपनी मोहर लगाती हैं।

—जयप्रकाशनारायण

समाज अथवा आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन का कोई कम समय का राह नहीं है और मनुष्य को एक दिन में देवदूत नहीं बनाया जा सकता। उसके वर्तमान जीवन की आदतें, उसके सोचने-विचारने के ढंग काफी जड़ जमा चुके हैं। उन्हें तुरन्त उखाड़ना सम्भव नहीं। इसलिए वर्तमान समाज का रूपान्तर भी क्रमिक होगा—धीमे, लेकिन प्रगतिगामी परिवर्तन के प्राकृतिक नियम के अनुसार।

—एडमांड जेकेली

आजादी के बाद भी क्रान्ति की आवश्यकता—कुछ लोग समझते हैं कि किसी देश के स्वाधीन हो जाने पर उसे क्रान्ति की जरूरत नहीं रहती। यह समझ ठीक नहीं। उदाहरण के लिए भारत की बात लें। यहाँ स्वाधीनता-आन्दोलन में हमने नारा लगाया था, 'इन्क्लाब

जिन्दाबाद' अर्थात् क्रान्ति चिरायु हो। क्या आजादी के बाद उस नारे की जरूरत नहीं रही ? वास्तव में आजादी और क्रान्ति एक बात नहीं है। आजादी तो एक साधन मात्र है, उससे केवल यह होता है कि देश की उन्नति के मार्ग की बाधाएँ दूर हो जायँ। आर्थिक, सामाजिक था सांस्कृतिक उन्नति का कार्य तो बाकी ही रहता है, और इनके लिए क्रान्ति करने की जरूरत बनी रहती है। क्रान्ति का अर्थ है जीवन के मूल्यों में मूल परिवर्तन। इस दृष्टि से हमारे यहाँ तो राजनैतिक क्षेत्र में भी क्रान्ति नहीं हुई। हमारी राजनैतिक संस्थाएँ भारी-भरकम खर्च और भ्रष्टाचार पर आधारित निर्वाचन पद्धति, अनैतिक दलबन्दी पर आधारित बहुमत दल का शासन, पुलिस और फौज सम्बन्धी हमारी मान्यताएँ—सब वैसा ही है, जैसा हमें अँगरेजों से विरासत में मिला था। हमारी अर्थव्यवस्था, शिक्षा प्रणाली तथा चिकित्सा पद्धति में कोई मौलिक अन्तर नहीं। जिधर देखो, नया निर्माण करना है, नयी मान्यताएँ स्थापित करनी हैं, हर बात में क्रान्ति की आवश्यकता है।

हिंसक उपायों की असफलता—क्रान्ति के लिए अनेक बार हिंसक साधनों का उपयोग किया गया। उस समय तो ऐसा मालूम हुआ कि जल्दी ही उद्देश्य सिद्ध हो गया, सफलता प्राप्त कर ली गयी, पर पीछे स्पष्ट हुआ कि ऐसा समझना भूल थी, वह सफलता क्षणिक ही रही। यही नहीं, जिन लोगों ने जनता के हित के नाम पर हिंसाकांड में नेतृत्व किया था, वे ही विजयी होने पर जनता के पीड़क और भक्षक बन बैठे। फ्रांस की अठारहवीं सदी की क्रान्ति इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। जनता ने अत्याचारी शासकों से अपना पिंड छुड़ाने के लिए नेपोलियन के नेतृत्व में खूब खून बहाया। विजय हुई, पर वह विजय नेपोलियन और उसके सेनापतियों की विजय थी, जनता की नहीं। जनता को पीछे राजवंश की नहीं, 'तो नेपोलियन के आदमियों

की ज्यादतियों का शिकार होना पड़ा। हिंसा से समस्या का रूप भले ही बदले, समस्या हल नहीं होती, वह बनी ही रहती है। इस प्रकार का अनुभव इतिहास में बारबार हुआ है तो भी आदमी क्रान्ति के लिए हिंसा को अपनाने की बात कहते रहे हैं। हाँ, इधर लोगों की विचारधारा में उत्तरोत्तर परिवर्तन हो रहा है, अब हिंसा की सफलता में पहले जैसी आशा या श्रद्धा नहीं रही है, वह घटती जा रही है।

कानून का प्रभाव सीमित ही होता है—आजकल बहुत से आदमियों का कानून की शक्ति में बहुत विश्वास पाया जाता है। वे प्रत्येक सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक समस्या हल करने के लिए कानून बनवाने का सुझाव रखा करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि कानून की कुछ मर्यादाएँ हैं। कानून ज्यादा से ज्यादा यह कर सकता है कि कुछ लोगों को बुराई करने से रोकने में सहायक हो, परन्तु वह उन्हें भलाई करने की प्रेरणा नहीं दे सकता। फिर, उसकी सफलता विशेष दशा में (और परिमित सीमा तक) ही होती है।

वास्तव में कानून उसी दशा में सफल होता है, जब उसके लिए यथेष्ट भूमिका तैयार होती है, अधिकांश आदमी उसकी भावना का आदर करते हैं। कानून केवल जनता की इच्छा को व्यक्त करता तथा उस पर अपनी मोहर लगाता है। इस प्रकार समाज-सुधार में कानून के लिए स्थान लोकमत के बाद ही होता है। प्रथम स्थान लोकमत-निर्माण या विचार-परिवर्तन का है। परन्तु साधारण ही नहीं, अनेक समझदार आदमी भी कानून को प्रमुख मान लेते हैं। वे सोचते हैं कि कानून बन जाने से लोगों के विचार स्वयं बदल जायँगे। यह ठीक है कि अस्सी-नव्वे फी सदी जनता का एक प्रकार का विचार हो तो कानून से शेष दस-बीस फी सदी का भी विचार वैसा बनने में कुछ सहायता मिल सकती है, परन्तु यदि केवल दस-बीस फी सदी आदमियों की ही एक भावना है

तो कानून बन जाने से शेष सब जनता वैसा आचरण करने वाली नहीं बन जायगी। कानून एक सीमा तक लोगों को सज्जन बनाने की परिस्थिति पैदा करता है, पर लोगों को प्रत्यक्ष रूप से सज्जन नहीं बनाता। अंग्रेजी में कहावत है कि 'आप घोड़े को नदी तक ले जा सकते हैं लेकिन आप उसे पानी पीने के लिए मजबूर नहीं कर सकते।' अस्तु कानून की जबरदस्ती से आदमी सुधारे नहीं जा सकते, क्रान्ति नहीं की जा सकती।

क्रांति की आधार-शिला, विचार-परिवर्तन—इस प्रकार यह स्पष्ट है कि क्रांति को सफल और स्थायी बनाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि समाज के विविध प्रकार के आदमियों के विचारों में आमूल परिवर्तन हो, उनके मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण बदलें। वे जीवन के पुराने मूल्य-मापों को अस्वीकार करें और आचार-व्यवहार के नये मूल्य स्थापित करें। विचार-परिवर्तन से हृदय-परिवर्तन होगा, आचार-व्यवहार बदलेगा, और उससे जीवन-परिवर्तन होगा। तब आदमी अपनी-अपनी इच्छा से, बिना किसी दबाव प्रलोभन या भय के उस प्रकार कार्य करेंगे, जैसा कराना क्रांति का उद्देश्य है। वास्तव में कुछ लोगों की या बहुत लोगों की भी इच्छा या निश्चय का अनिच्छुक या विरुद्ध मत वाले आदमियों पर लादा जाना क्रान्ति नहीं है। क्रान्ति तो जनसाधारण के बदले हुए विचारों की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार नये दृष्टिकोण के अनुसार लोकमत-निर्माण या विचार-परिवर्तन किया जाना क्रान्ति का बुनियादी काम है।

इसलिए समाज में वास्तविक क्रांति कराने वालों का कर्तव्य होता है कि जनता को अपना दृष्टिकोण समझावें, और बराबर समझावें। यदि लोगों को उनकी बात ठीक नहीं जचती, उसमें शंका होती है या वे उसका उपहास करते हैं तो भी सूत्रधारों को निराश होने या

घबराने की कोई बात नहीं है। उन्हें अपने मंतव्य में दृढ़ निष्ठा रखते हुए, निरन्तर धैर्य-पूर्वक लोगों को समझाते रहने का कार्य-क्रम चलाते रहना है। जो आदमी आज नहीं समझते वे कल समझेंगे, कल भी न समझने वाले परसों समझेंगे। हमें यह विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः भला होता है, आप उसके हृदय को स्पर्श करें तो वह मानव-हित के कार्य में यथेष्ट सहयोग प्राप्त करने को तैयार हो जायगा।

हृदय-परिवर्तन—कुछ दशाएँ ऐसी भी हो सकती हैं, और होती हैं, जिनमें केवल समझाना-बुझाना पर्याप्त नहीं होता अर्थात् यथेष्ट प्रयत्न करने पर भी विचार-परिवर्तन नहीं होता। ऐसी दशा में सत्याग्रह और असहयोग का मार्ग अपनाया जाना चाहिए। इस मार्ग के अवलम्बन करने वालों को इस कार्य में जल्दबाजी न करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्हें अपनी जिम्मेदारी का ध्यान रखना और अपनी भावना तथा व्यवहार का उच्च स्तर बनाये रखना जरूरी है। स्मरण रहे कि असहयोग किसी व्यक्ति से नहीं होता, वह तो केवल व्यक्ति की बुराई के साथ होता है। इसमें हमारा उद्देश्य किसी व्यक्ति को कष्ट पहुँचाना या उसकी स्थिति से अनुचित लाभ उठाना नहीं होता; व्यक्ति से तो हमारा स्नेह ही होता है, हम उसकी उन्नति और सुधार चाहते हैं, हम केवल उसकी बुराई दूर करना चाहते हैं। सम्भव है, वह उसमें अपनी भौतिक हानि समझे, अथवा उसे अपने पूर्व संस्कारों के कारण हमारा दृष्टिकोण बहुत गलत और क्षोभजनक प्रतीत हो; वह हमें अपना विरोधी भी समझे और हमसे शत्रुता का व्यवहार करे। इसलिए सत्याग्रह और असहयोग करने वाले को दूसरों के द्वारा मिलने वाले लांछन, अपमान या शारीरिक आघात आदि को शान्ति पूर्वक सहन करने के लिए तैयार रहना चाहिए। उसके कष्ट-सहन और धैर्य से उसके उद्देश्य और प्रयत्न को बल ही मिलेगा, लोगों को क्रान्ति की उपयोगिता में विश्वास बढ़ेगा। कितने ही आदमी जो पहले क्रान्ति का

विरोध करते थे, अब उनका रुख बदल जायगा, यहाँ तक कि उनमें से कुछ क्रान्ति में प्रत्यक्ष सहायता देने लगेंगे। इस प्रकार हृदय-परिवर्तन का कार्य और अधिक वेग से होने लगता है।

परिस्थिति-परिवर्तन—क्रान्ति के लिए परिस्थिति-परिवर्तन भी बहुत आवश्यक और उपयोगी है। हाँ, इसका स्थान सर्व-प्रथम नहीं; अर्थात् यह नहीं सोचना चाहिए कि परिस्थिति-परिवर्तन मात्र से उद्देश्य सिद्ध हो जायगा। उदाहरण के लिए मद्यपान का निषेध करना है। इसके लिए अनुकूल परिस्थिति पैदा करना यह है कि जो लोग मद्यपान करते है उनके पास मोहल्लों में, या बाजारों में शराब की दुकानें न हों; जो दुकानें हों, वे उठा दी जायँ। परन्तु यह समझना भूल है कि इससे ही मद्यपान बन्द हो जायगा। यदि पहले से लोगों को मद्यपान की हानियाँ समझाकर, घर-घर स्कूलों, होटलों, सिनेमाघरों और सार्वजनिक स्थानों में, छोटों-बड़ों सब में खूब प्रचार करके जनता के हृदय में यह बात नहीं बैठा दी गयी है कि शराब उन्हें बरबाद करने वाला पदार्थ है तो कानून बन जाने या दुकानें न रहने का नतीजा केवल यह होगा कि आदमी मद्यपान खुले-आम न करके चोरी-छिपे करेंगे और पास में न मिलने पर दूर-दूर से लाकर या स्वयं तैयार कर के इसका सेवन करने लगेंगे। कानून केवल किताबों में रखा रहेगा और दंड-भय एक सीमा से आगे बेकार साबित होगा। निदान, मद्य-पान-निषेध के लिए प्रमुख आवश्यकता विचार-परिवर्तन की और हृदय-परिवर्तन की है; हाँ, परिस्थिति-परिवर्तन भी उसमें सहायक हो सकता है। इसी प्रकार अन्य विषयों के लिए विचार किया जा सकता है।

क्रान्ति और भूदान-यज्ञ—भारत का वर्तमान भूदान-यज्ञ अहिंसक क्राति का बहुत अच्छा उदाहरण है। इसमें जिन लोगों के पास बहुत अधिक जमीन है, उनसे छीनने-झपटने या हिंसक कार्रवाई

करने का प्रश्न ही नहीं। कानून या राजसत्ता से भी यह कार्य नहीं कराया जा रहा है। विनोबा और उनके सहयोगी गाँव-गाँव घूमते हैं, लोगों को समझाते हैं कि किसी व्यक्ति का अपने को जमीन का मालिक मानना अनुचित है; हवा और पानी की तरह जमीन कुदरती देन है, इसमें सबका हिस्सा है। जिस तरह हवा और पानी का उपयोग समाज के लिए होता है, उसी तरह जमीन का उपयोग भी समाज-हित की दृष्टि से होना चाहिए। जो आदमी खेती नहीं करता, उसके पास जमीन न रहे; इसी प्रकार जो आदमी या परिवार जितनी जमीन पर खेती कर सकता है, वह उससे अधिक जमीन अपने पास न रखे। इस प्रकार लोगों के विचार बदले जा रहे हैं, नयी मान्यताएँ स्थापित की जा रही हैं।

विशेष वक्तव्य—यद्यपि भूदान अन्दोलन से स्थूल या प्रत्यक्ष कार्य जितना हुआ है, और हो रहा है उसका काफी महत्व है, पर इससे अधिक मूल्यवान तो इसके द्वारा बनने वाला वातावरण है। शान्ति-पूर्वक एक महान् क्रान्ति हो रही है। भूदान के अनुभव ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जीवन की विविध समस्याओं को हल करने, क्रान्ति करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय मत-परिवर्तन या विचार-परिवर्तन ही है। हिंसा तथा कानून के समर्थकों को इस विषय पर गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिए।

बारहवाँ अध्याय

साधन-शुद्धि आवश्यक

वे कहते हैं—'साधन आखिर साधन हैं।' मैं कहूँगा—'साधन ही अन्त में सब कुछ हैं।' जैसे हमारे साधन होंगे, वैसा ही साध्य भी होगा। साधनों और साध्य के बीच में कोई अलग करने वाली दीवार नहीं है। साधनों के ठीक अनुपात में ही हमारे ध्येय या साध्य की सिद्धि होगी। इस विधान में अपवाद की कोई गुँजाइश नहीं है।

—गाँधीजी

साधन ही अन्त में साध्य का रूप ले लेता है। दोनों का अंतिम रूप एक ही हो जाता है। रास्ता वहाँ खतम होता है, जहाँ मुकाम आता है। आखिर रास्ता क्या है? हमें मुकाम पर पहुँचाने का साधन मात्र है। मार्ग का अन्तिम बिन्दु ही मुकाम है। साधन का अंतिम बिन्दु साध्य है। यदि हमने उपयुक्त साधन अपना लिया तो साध्य प्राप्त होना केवल समय का प्रश्न है।

—दादा धर्माधिकारी

हम समाज की नयी व्यवस्था करना चाहते हैं। हमें धार्मिक, सामाजिक, औद्योगिक क्रान्ति करनी है। नव-निर्माण सम्बन्धी अनेक कार्य हमारे सामने हैं। प्रश्न यह है कि उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए हमारे साधन कैसे हों? क्या हम चाहे-जैसे साधनों से काम लें; जिस साधन से भी उद्देश्य-सिद्धि की सम्भावना हो, उसी को ठीक समझ लें; उसके भले या बुरे होने का विचार न करें?

साधन-शुद्धि की अवहेलना—साधारण तौर से हम साध्य के विषय में खूब सोच-विचार करते हैं। हम निश्चय कर लेते हैं कि उद्देश्य अच्छा ही होना चाहिए, खराब उद्देश्य को हम अशोभनीय मानते हैं, परन्तु यह नहीं सोचते कि अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए जिन साधनों से काम लेना है, वे भी अच्छे होने चाहिए। हम जब अपने सामने एक विशेष लक्ष्य रख लेते हैं तो फिर यह विचार करने की झंझट में नहीं पड़ते कि उसे प्राप्त करने के लिए अमुक साधन ठीक होंगे और अमुक ठीक नहीं। हमें तो जैसे भी बने सफलता प्राप्त करने की इच्छा होती है, चाहे वह सफलता किसी भी प्रकार के साधनों से मिले। इस प्रकार साधन-शुद्धि की ओर हमारी उदासीनता रहती है।

कुछ उदाहरण—कई बार ऐसा देखने में आया कि किसी व्यक्ति या कुछ मित्रों ने मिल कर एक स्कूल या अस्पताल चलाने का विचार किया। उन्हें इसके लिए रुपये की आवश्यकता हुई तो उन्होंने इसके लिए लाटरी अर्थात् जुए के टिकट निकाले। वे जानते हैं कि जुआ एक खराब काम है, इससे लोगों में मुफ्त में या बिना मेहनत धन पाने की लालसा बढ़ती है, पर उन्होंने समझ लिया कि समाज में शिक्षा या स्वास्थ्य-चिकित्सा का प्रचार करना एक अच्छा काम है, इसे करने के लिए यदि लाटरी या जुए का साधन काम में लाया जाय तो कोई हर्ज नहीं। ये लोग नहीं सोचते कि एक स्कूल या अस्पताल से यदि कुछ लोगों का मानसिक या शारीरिक हित होता है तो जुए के प्रचार से, तथा जुए के प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ाने से कितनी आर्थिक तथा नैतिक हानि होती है।

अनेक बार आदमी अपने देश को स्वतंत्र करने के लिए जहाँ तहाँ किसी अधिकारी की हत्या करके शासकों पर आतंक जमाने की योजना किया करते हैं। ये योजनाएँ गुप्त रीति से होती हैं, इनके लिए

खुले-आम चन्दे आदि से धन संग्रह नहीं किया जा सकता। इसलिए आतंककारी अपने उद्देश्य-सिद्धि के लिए डाके डालने या देश के धनिकों को लूटने आदि का काम करते हैं। ऐसे आतंककारियों के देश-प्रेम में तो शंका नहीं की जा सकती, पर इनके द्वारा कई बार जाने-अनजाने निर्दोष आदमियों की हत्या हो जाती है; उस बात को छोड़ दिया जाय तो भी लूटमार और डाके से स्वतंत्रता-प्राप्ति का (यदि वह किसी अंश में सफल भी हो जाय) कदापि समर्थन नहीं किया जा सकता; कारण इससे ऐसा दूषित वातावरण बनता है कि देश स्वतंत्र होने पर भी यथेष्ट सुख शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता।

भारत के पराधीनता काल में अंगरेज शासक यहाँ अफीम की पैदावार करा कर उसे चीन आदि देशों में भेजकर और इस देश में शराबखोरी जारी रख कर आमदनी हासिल करते थे। जब राष्ट्रीय नेता इसका विरोध करते थे तो अधिकारी कहा करते थे कि देश में शिक्षा प्रचार आदि का कार्य करने के लिए उन बातों की जरूरत है। अब अफीम का व्यापार तो बन्द ही है, पर मद्यपान जारी है। कई बार कुछ अधिकारी यह कहा करते हैं कि यदि सरकार मद्य-निषेध नीति अपनाएगी तो उसकी आमदनी कम हो जायगी, फिर शिक्षा आदि के लिए यथेष्ट द्रव्य न रहेगा। इस तर्क में कोई सार नहीं है, और इसके खंडन में बहुत-कुछ कहा जा सकता है। हमें यहाँ केवल यही कहना है कि शिक्षा-प्रचार का उद्देश्य अच्छा होने पर भी उसके लिए यह नीति जारी रखना सर्वथा अनुचित है। अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भी बुरे साधनों का उपयोग न करना चाहिए।

साधन और साध्य की अनिवार्य एकता—साधन-शुद्धि की अवहेलना या उपेक्षा का कारण यह है कि प्रायः आदमी साधन और साध्य को दो ऐसी चीजें समझते हैं, जो एक दूसरे से जुदा हों, जिनका

एक दूसरे से कोई सम्बन्ध न हो। परन्तु यह बड़ी भूल है। असल में साधन से ही साध्य की प्राप्ति होती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि साधन बीज है, और साध्य उसका फल। जैसा बीज होगा, वैसा पेड़ लगेगा और उसके अनुसार फल आएगा। बबूल के बीज से आम की आशा करना अपने आपको धोखा देना है। अगर हम आम का फल चाहते हैं तो आम की ही गुठली बोनी चाहिए। श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा है—'हमारा लक्ष्य और उसे प्राप्त करने के लिए अपनाये गये साधनों में बहुत पास का और गहरा सम्बन्ध है। साध्य के सही होने पर भी अगर साधन गलत है, तो वे साध्य को बिगाड़ देंगे या उसे गलत दिशा में मोड़ देंगे। इस तरह साधन और साध्य में गहरा और अटूट सम्बन्ध है। वे एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते।'*

गाँधी जी के विचार—आधुनिक काल में जनता का इस ओर व्यापक रूप से ध्यान दिलाने तथा इसे क्रियात्मक स्वरूप देने का श्रेय गाँधी जी को है। उन्होंने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का लगभग तीस वर्ष संचालन किया, इस आन्दोलन के अन्दर केवल सामाजिक, आर्थिक या औद्योगिक कार्यक्रम ही नहीं रहा, इसमें भारत की स्वाधीनता-प्राप्ति की भी बात थी। गाँधी जी ने अपने सभी कार्यक्रम में साधन-शुद्धि का आग्रह किया। खासकर स्वाधीनता-आन्दोलन में ऐसी नीति की सफलता में लोगों को पूरा सन्देह था। बड़े-बड़े बुद्धिमान कहे और माने जाने जाने वाले व्यक्ति बारबार इतिहास की दुहाई देते हुए कहते थे कि राजनीति में साधन-शुद्धि की हठ करना ठीक नहीं। पर गाँधी जी अडिग रहे, और आखिर वे अपने प्रयत्नों में यशस्वी होकर विवेकशीलों को साधन-शुद्धि में विश्वास दिला सके।

गाँधी जी का कथन है—'यदि हम किसी ध्येय को प्राप्त करने के

*देखिए, 'सर्वोदय का सिद्धान्त'।

के साधन नहीं जानते या उनका उपयोग नहीं करते तो उसकी स्पष्ट से स्पष्ट परिभाषा और समझ भी हमें उसके पास तक नहीं पहुँचा सकती। इसलिए मैंने मुख्य चिन्ता साधनों को सुरक्षित रखने की और उनके प्रगतिशील उपयोग की ही रखी है। मैं जानता हूँ कि अगर हम साधनों की संभाल कर सकें तो ध्येय की सिद्धि निश्चित है। मैं यह भी मानता हूँ कि हमारे साधन जितने शुद्ध होंगे, ठीक उसी अनुपात में ध्येय की तरह हमारी प्रगति होगी।[1]

विशेष वक्तव्य—समाज-निर्माण सम्बन्धी विविध क्षेत्रों में काम करने वाले यदि साधन-शुद्धि का महत्व समझ कर इसे व्यवहार में लाने लगें तो यह संसार कितना सुधर जाय! अनुचित या अशुद्ध साधनों को अमल में लाने से वास्तविक साध्य की प्राप्ति नहीं होती, और यदि साध्य प्राप्त होता हुआ मालूम हो तो भी नैतिक वातावरण दूषित होने से समाज की इतनी अधिक क्षति होती है कि कुल मिला कर यह काम घाटे का ही होता है। इसके विरुद्ध शुद्ध साधनों के उपयोग में हानि की कोई बात ही नहीं है, जितनी सीमा तक उनका उपयोग होगा, जनता को वहाँ तक नैतिक लाभ मिलेगा ही, और यह लाभ समाज की स्थायी कमायी होगी, जिसके उत्तरोत्तर बढ़ते रहने की सम्भावना है। बहुधा आदमी जल्दबाज होते हैं, वे चाहते हैं कि उद्देश्य की प्राप्ति जल्दी से जल्दी हो जाय, इस लिए वे जो भी साधन सुलभ होता है, उसी से काम निकालने के लिए उत्सुक रहते हैं। परन्तु यह पद्धति अस्वाभाविक है। समाज-निर्माण का कार्य धैर्य और गम्भीरता पूर्वक होना चाहिए और इसमें साधन-शुद्धि से देर लगाती मलूम हो तो भी इसे ही अपनाना चाहिए; कारण, कि यही ठीक है।

---

[1] 'अमृत बाजार पत्रिका' १७-६-३३

तेरहवां अध्याय

अर्थ-रचना और राज्य-रचना विकेन्द्रित

मुख्य बात यह है कि सब आदमियों को पूरा रोजगार मिले, उन्हें सभ्य नागरिक जीवन की सुविधाएँ उपलब्ध हों और संघर्ष एवं युद्ध के भय से सब मुक्त रहें। ये तीनों लक्ष्य हमारी अर्थ-व्यवस्था में ग्रामोद्योगों को केन्द्र-बिन्दु मानकर ही प्राप्त किये जा सकते हैं।

—भारतन कुमारप्पा

सच्ची लोक-सत्ता तब तक नहीं आ सकती, जब तक शासन को केन्द्रित करते हैं और सेवा का आधार रखते हैं। अतः होना यही चाहिए कि गांव-गांव में सत्ता का विभाजन हो।

—विनोबा

[१]

अर्थ-रचना का विकेन्द्रीकरण

समाज-व्यवस्था में विकेन्द्रीकरण का महत्व—सामाजिक जीवन के लिए प्रेम और स्नेह बहुत आवश्यक है। इनका आधार व्यक्तिगत सम्बन्ध है; और व्यक्तिगत सम्बन्ध जितना छोटे समूहों में व्यक्त हो सकता है, उतना बड़े समूहों में नहीं। बड़े-बड़े केन्द्रित समूहों में तो आदमी को एक-दूसरे को जानने, समझने और हार्दिक सम्पर्क रखने का न अवसर मिलता है और न उसकी अनुकूलता होती है। जिन लोगों से हमारे सम्पर्क आदि का प्रसंग कम आता है, उनसे

हमारा स्नेह सम्बन्ध कम ही होने वाला है। इस प्रकार समाज-व्यवस्था में विकेन्द्रीकरण का महत्व स्पष्ट है।

इस अध्याय में अर्थ-रचना और राज्य-रचना के विकेन्द्रीकरण का विचार करना है। पहले अर्थ रचना की बात लें।

अर्थ-रचना का ध्येय; मानव हित-साधन—आज-कल अर्थ-व्यवस्था का लक्ष्य यह माना जाता है कि खूब सामान बनाया जाय; जैसे भी बने, उत्पादन बढ़ाया जाय—यह कार्य यंत्रों द्वारा ही विशेष होता है। फिर, उत्पन्न माल को खपाने के लिए विदेशी बाजारों को हथियाया जाय; शान्ति से नहीं तो बल-प्रयोग करके, युद्ध ठान करके। परन्तु सर्वोदय दृष्टि दूसरी ही है। उसके अनुसार अर्थ-रचना का ध्येय केवल भौतिक वस्तुओं का निर्माण न होकर मानव हित होगा! उसमें मनुष्य का यथेष्ट महत्व रहेगा और जीवन की समृद्धि भोग-विलास की सामग्री के परिमाण से नहीं नापी जायगी, मानवी गुणों से, सहानुभूति और सहयोग, त्याग और सेवा-भाव से। स्पष्ट है कि व्यवस्था ऐसी तो होनी ही चाहिए, जिससे सब को रोजगार मिले, और सब स्वावलम्बी बने।

अर्थ-रचना विकेन्द्रित करने की आवश्यकता—यह बात केन्द्रित अर्थ-रचना में नहीं हो सकती। उसमें बड़े-बड़े यंत्रों का उपयोग होता है, जिनपर थोड़े से व्यक्तियों का स्वामित्व होता है, और जिनमें मानव श्रम की आवश्यकता कम होती है। जो उत्पादन ग्रामोद्योगों की विकेन्द्रित पद्धति से हजार आदमियों द्वारा होता है, वह बड़े-बड़े कल कारखानों में सौ आदमियों द्वारा हो जाता है, और पीछे नये-नये बढ़िया यंत्रों के आविष्कार और उपयोग से उसके लिए श्रमिकों की जरूरत और भी कम रह जाती है। इस प्रकार इनसे बेकारी और बेरोजगारी बढ़ती जाती है। इससे बचने के लिए आवश्यक है कि उत्पादन के साधन चन्द आदमियों के अधिकार में न रहें, सब आदमी

स्वतंत्र या सहकारी रूप में काम करें और स्वावलम्बी जीवन बितायें। यह बात विकेन्द्रित या ग्रामोद्योगी उत्पादन में ही होती है।

ग्रामोद्योगी कार्य—ग्रामोद्योगी कार्यों में उन सब कार्यों का समावेश है, जो सर्वसाधारण जनता की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इनके स्थूल रूप से तीन भेद किये जा सकते हैं—(१) जो रोजमर्रा के काम की चीजें हैं, जैसे भोजन, कपड़ा, मकान आदि; ये गाँव-गाँव में छोटे उद्योगों के रूप में बनायी जायँ। जो काम घर में हो सकता है, वह घर में हो, जैसे आटा पीसना, भोजन तैयार करना और सूत कातना। (२) जो चीजें घर में नहीं बन सकतीं, वे गाँव में बनें, जैसे बुनकर कपड़ा बुनें, तेली गाँव की जरूरत के लिए तेल निकालें, चमार जूता बनायें। इसी प्रकार गाँव में बढ़ई, लुहार, कुम्हार आदि काम करें। (३) जूतों के लिए चमड़ा बनाने का काम तथा गन्ने या ताड़ का गुड़ बनाने का काम दस-पाँच गाँवों के क्षेत्र में किसी एक स्थान पर हो सकता है। इस तरह कुछ धंधे घर-घर में, कुछ गाँव-गाँव में, और कुछ एक-एक ग्राम्य क्षेत्र की इकाई में हों। निदान, मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परिवार, गाँव या ग्राम्य-समूह को ऐसी इकाई के रूप में संगठित करना, जो अधिक से अधिक स्वावलम्बी हो, सर्वोदय योजना का मुख्य उद्देश्य है।

पारस्परिक सम्पर्क और अहिंसक व्यवहार—विकेन्द्रित उत्पादन में स्थानीय सामग्री का उपयोग होता है। कच्चा माल उसी स्थान का होता है, और जो सामान तैयार होता है उसका उपयोग करने वाले भी अधिकतर वहां के ही होते हैं। इस प्रकार उत्पादक और उपभोक्ता में प्रत्यक्ष या सीधा सम्पर्क रहता है। उन्हें एक-दूसरे से काम रहता है। इससे उत्पादकों को स्वयं ही अच्छा काम करने की प्रेरणा होती है। उन्हें अपनी कलात्मक प्रवृत्ति का विकास करने का यथेष्ट अवसर मिलता है।

विकेन्द्रित उत्पादन पद्धति में श्रमी स्वतन्त्र होता है, जिन औजारों से काम करता है वे उसके ही होते हैं, उत्पादन का पूरा लाभ उसे ही मिलता है, न कोई उसके ऊपर हुकूमत करने वाला होता है, और न कोई उसका शोषण करने वाला। काम की देखभाल या व्यवस्था करने वाले होते हैं, पर वे भी एक प्रकार के श्रमी ही होते हैं, और उनका अपने श्रमी भाइयों से अहिंसक और प्रेममय व्यवहार होता है।

विकेन्द्रित अर्थ-रचना में यंत्रोद्योगों का स्थान—हमारी कुछ आवश्यकताएँ ऐसी भी हैं, जिनकी पूर्ति करने वाले सामान का उत्पादन केन्द्रित पद्धति से करना होगा अर्थात् जिनके लिए यन्त्रोद्योगी पद्धति का उपयोग किया जायगा। इनके तीन भेद किये जा सकते हैं :—(१) बिजली, नल के पानी आदि का प्रबन्ध उस गाँव या नगर की स्थानीय संस्था द्वारा होना चाहिए, जिससे इनका सम्बन्ध हो। (२) रेल, तार डाक, कोयले आदि की खानें, सड़क हवाई जहाज, या नहर आदि जल-मार्गों का सम्बन्ध किसी एक नगर या प्रान्त से ही नहीं होता। इनका उपयोग राष्ट्रीय और कुछ का तो अन्तर्राष्ट्रीय होता है। ऐसी वस्तुओं का उत्पादन और संचालन राष्ट्रीय पंचायतों या सरकारी-गैर सरकारी मिली जुली संस्थाओं दारा केन्द्रित पद्धति से करना होगा। (३) सैनिक उद्योगों की सर्वोदय व्यवस्था में आवश्यकता न रहेगी, पर अभी जब तक आवश्यकता है, इनका उत्पादन केन्द्रीय सरकार द्वारा केन्द्रित पद्धति से ही करना ठीक होगा।

विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था से विश्व-शान्ति—आजकल केन्द्रित अर्थव्यवस्था में हरेक औद्योगिक देश अधिक से अधिक कल कारखाने चलाकर विशाल परिमाण में माल तैयार करता है और उसे दूसरे देशों में खपाने के लिए तरह-तरह के उपायों से काम लेता है; औद्योगिक देशों की आपस में खूब तनातनी रहती है, और विश्व-संकट की स्थिति

बनी रहती है। इससे बचने के लिए स्वावलम्बन-नीति को अधिक से अधिक अपनाने की ।जरूरत है। प्रत्येक ग्राम-क्षेत्र अपनी प्रमुख या बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करने का प्रयत्न करे। जिन वस्तुओं की उत्पत्ति का निर्माण वह न कर सके उन्हें वह अन्य निकट के क्षेत्रों से ले। इस प्रकार लोगों को अपने प्रान्त के बाहर से वस्तुओं को मँगाने की जरूरत न हो, और किसी देश को दूसरे देशों के आश्रित होने का तो अवसर ही न आये। हम संयम और सादगी का जीवन बितायें और फैशन या विलासिता की वस्तुएँ काम में न लायें, तो उनके आयात का प्रश्न ही न रहे। इस प्रकार कोई देश हमें व्यापार के नाम पर लूट न सकेगा। और साथ ही हमारा यह भी निश्चय रहेगा कि हम भी किसी देश में मुनाफेखोरी की भावना से अपना माल भेजने को उत्सुक न होंगे। हम किसी के द्वारा शोषित होना नहीं चाहते तो हम किसी का शोषण करना भी पसन्द नहीं करते। वर्तमान राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-नीति इस प्रकार की होने पर विश्व-शान्ति के मार्ग से बड़ी बाधा दूर हो जायगी और आगे कदम बढ़ाने में विलक्षण सहायता मिलेगी।

विशेष वक्तव्य—हमारी अभीष्ट अर्थव्यवस्था में कुछ उद्योग केन्द्रित पद्धति से भी संचालित होंगे, परन्तु उनका आकार प्रकार बहुत न्यून ही होगा। अधिकतर अर्थव्यवस्था विकेन्द्रित होगी। विशेष बात यह है कि हमारी रोजमर्रा की जरूरतों को पूरा करने की पद्धति ग्रामोद्योगी या विकेन्द्रित होगी, जिसमें व्यक्ति स्वावलम्बी और स्वाश्रयी होगा, न वह किसी के विकास में बाधक होगा और न कोई उसके विकास को रोकने वाला होगा। मालिक मजदूर की, स्वामी और नौकर की भावना न होगी; सब, लगभग एक सरीखे धरातल पर रहते हुए एक दूसरे से प्रेम और सौहार्द का परिचय देंगे। ग्रामोद्योगों के सम्बन्ध में अन्य बातें अगले अध्याय में दी जा रही हैं।

[२]

राज्य-रचना का विकेन्द्रीकरण

वर्तमान अवस्था में वास्तविक लोकसत्ता का अभाव—पहले सत्ता राजाओं के हाथ में थी। अब प्रायः शासन का अधिकार एक व्यक्ति में केन्द्रित न रह कर कुछ आदमियों को रहने लगा है। तथापि सत्ता सर्वसाधारण की नहीं है। जनता के प्रतिनिधि कहे जाने वाले-व्यक्तियों की सभा राज्य के किसी केन्द्रीय नगर अर्थात् राजधानी में बैठ कर राज-काज करती है। नागरिकों को पांच साल में एक बार वोट या मत देने का मौका मिलता है, उस समय भी उन्हें कई सत्ताभिलाषी दलों में एक चुन लेना होता है, चुनावों के बाद नागरिक उतने ही सत्ताहीन होते हैं, जैसे सर्वाधिकारी राज्य में; वे बात-बात में राजधानी के कर्त्ता-धर्ताओं के मुखापेक्षी होते हैं। गांव में कौनसे पदार्थ बाहर से आने दिये जायँ, किन पदार्थों का आना बन्द किया जाय, गांव से सरकारी आय किन मदों से किस हिसाब से हो, वह आय किस प्रकार खर्च की जाय, गांव में कैसी शिक्षापद्धति चले, कैसा औषधालय बने—आदि बातों का निश्चय गांव में नहीं होता, दूर शहरी राजधानियों में होता है। इसी प्रकार चोरी, डाका या लूटमार और कत्ल की घटनाएँ गांव में होती हैं तो उनका विचार भी बाहर की अदालतों में होता है, और आखरी फैसला करने वाली ऊँची अदालतें तो सैकड़ों मील दूर होती हैं।

इस प्रकार भारत के स्वाधीन हो जाने पर भी यहाँ के लाखों गांव तो स्वराज्य से वंचित ही हैं। सब सत्ता दिल्ली तथा कुछ अन्य नगरों में केन्द्रित है। इस राजनैतिक केन्द्रीकरण के कारण राज्य सर्व-शक्ति-सम्पन्न है, भले ही उसे लोकतंत्री कहा जाय। वास्तविक लोकसत्ता कायम करनी है तो यह बदल देना होगा। लार्ड एक्टन ने कहा था कि 'सत्ता मनुष्य को बिगाड़ती है, और पूर्ण सत्ता पूरी तरह बिगाड़ती है।' हमारे यहाँ

भी कहा है—'प्रभुता पाय काहु मद नाहीं', मनुष्य को सत्ता उतनी ही मिलनी चाहिए, जितनी वह आसानी से पचा सके। अस्तु, हमें सत्ता का विकेंद्रीकरण करके सर्वत्र ग्रामराज स्थापित करना है।

राजनैतिक विकेन्द्रीकरण नीति की आवश्यकता—इसके लिए जरूरी है कि गाँव के रोजमर्रा के जीवन सम्बन्धी प्रायः सब बातों का निर्णय, श्रीगणेश और संचालन करने का अधिकार स्थानीय पंचायतों को हो। उन्हें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यथेष्ट आय प्राप्त करने तथा उसे जैसा उचित समझें खर्च करने का अधिकार हो। गाँव की भोजन वस्त्र सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति का आयोजन, शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, चिकित्सा, न्याय, यातायात आदि का प्रबन्ध ग्राम-संस्थाएँ करें। ऊपर की संस्थाएँ—जिला-सभा, राज्य-सभा आदि—उन्हें आवश्यक सलाह मशविरा दें, उनका पथ-प्रदर्शन करें, हुकूमत नहीं। उन्हें वे ही तथा वहाँ तक ही अधिकार हों, जहाँ तक नीचे की संस्थाएँ स्वीकार करें। इस प्रकार गाँव वाले यह निश्चय करेंगे कि व्यवस्था सम्बन्धी कितनी जिम्मेदारी वे गाँव की सामूहिक शक्ति से निभाएँगे और जिम्मेवारी का कौनसा अंश ऐसा है जो जिला-सभा को सौंपना ठीक होगा। जिला-सभा अपनी क्षमता से अधिक अर्थात् अवशिष्ट जिम्मेवारी राज्य-सभा को, और राज्य-सभा अपनी अवशिष्ट जिम्मेवारी केन्द्रीय सभा को सौंपेगी। केन्द्र को देश-रक्षा, राष्ट्रीय यातायात, राष्ट्रीय व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों के सम्बन्ध में ही निर्धारित अधिकार रहेगा। इस तरह जीवन की बुनियाद गाँव से शुरू होकर उसकी व्यवस्था विश्व-परिवार तक होगी और ज्यों-ज्यों ऊपर चलेंगे व्यवस्था क्षीण होती जायगी, अन्तिम अवशिष्ट बहुत ही सूक्ष्म होगा।

संस्थाओं का संगठन, निर्वाचन पद्धति—यह व्यवस्था प्रतिनिधिमूलक तो होगी, परन्तु जबकि व्यवस्था सम्बन्धी प्रथम प्रेरक

निर्णय ग्राम-समाज अर्थात् पंचायत के हाथ में होगा तो उसी पर नागरिकों का प्रत्यक्ष अधिकार होगा; उसके सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष होगा। ऊपर की व्यवस्था ग्राम-पंचायत द्वारा की गयी होगी। जिला-सभा गाँव-पंचायत के प्रति, राज्य-सभा जिला-सभा के प्रति और राष्ट्र-सभा राज्य-सभा के प्रति जिम्मेदार होगी। इसलिए जिला-सभा में गाँव-पंचायतों का, राज्य-सभा में जिला-सभाओं का, और राष्ट्र-सभा में राज्य-सभाओं का प्रतिनिधित्व होगा; अर्थात् इनके प्रतिनिधियों का चुनाव प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष होगा। आजकल के बड़े-बड़े चुनावों में एक-एक सदस्य के चुनाव के लिए कई-कई हजार रुपया खर्च होता है, और बहुत भ्रष्टाचार, छल-कपट, लड़ाई-झगड़े होते हैं, समाज में दूषित वातावरण बना रहता है, और सदस्य भी प्रायः ऐसे चुने जाते हैं जिनसे निर्वाचकों का प्रत्यक्ष परिचय नहीं होता। उनके विषय में मतदाताओं को जो जानकारी होती है, वह विज्ञापनबाजी के आधार पर होती है, जिसका अर्थ ही आजकल अत्युक्ति और झूठ है। ऐसी बातें स्वस्थ समाज के लिए कितनी अनिष्टकर हैं, यह स्पष्ट ही है। राजनैतिक विकेन्द्रीकरण होने पर ये नहीं रहेंगी।

विकेन्द्रीकरण से मनुष्य की वृति में सुधार—मनुष्य में समाजवादी और व्यक्तिवादी दोनों प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं। इस समय राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था के केन्द्रित होने के कारण व्यक्तिवाद बढ़ा हुआ है। केन्द्रित अर्थनीति में गाँव के आदमियों को जिन्दा रहने का साधन अलग-अलग, केन्द्र से प्राप्त करना होता है। इससे आदमियों की वृति अपने पड़ोसी की अपेक्षा अधिक सहूलियत प्राप्त करने की होती है। इससे प्रतिद्वन्दिता बढ़ती है, और प्रतिद्वन्दिता व्यक्तिवाद बढ़ाती है। अगर विकेन्द्रित तथा स्वावलम्बी अर्थनीति चले तो क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अकेला उत्पादन नहीं कर सकता, उसका स्वार्थ ही

उसे अपने पड़ोसी के साथ नाता जोड़ने के लिए बाध्य करेगा। इस कारण उसके स्वभाव में अनिवार्यतः सहकार-वृति का विकास होगा। सहकार समाजवाद का मूल तत्व है। इससे स्पष्ट है कि यदि अर्थ-व्यवस्था केन्द्रित न होकर विकेन्द्रित हो तो मनुष्य स्वभावतः वैयक्तिक के बजाय सामाजिक भावना को अपनायेगा।*

विशेष वक्तव्य—विकेन्द्रीकरण के विषय में खुलासा हमारी 'राज-व्यवस्था, सर्वोदय दृष्टि से' पुस्तक में लिखा गया है। संक्षेप में यह आवश्यक है कि अर्थ-रचना और राज्य-रचना दोनों को विकेन्द्रित किया जाना चाहिए। इन दोनों कार्यों के लिए हमारी प्रारम्भिक इकाई गाँव या ग्राम-क्षेत्र होगा, जो जीवन और जागृति का एक अच्छा केन्द्र होगा। आर्थिक दृष्टि से वह स्वावलम्बी और बहुत कुछ अंशों में स्वयं-पूर्ण तथा दूसरी इकाइयों से यथेष्ट सहयोग करने वाला होगा। राजनीतिक दृष्टि से वह स्वतंत्र प्रजासत्तात्मक होगा, जो बाहरी तड़क-भड़क न रखते हुए भी मानव संस्कृति का सुन्दर कल्याणकारी प्रतीक होगा।

---

*श्री धीरेन्द्र मजूमदार की 'युग की महान चुनौती' के आधार पर।

चौदहवां अध्याय

खेती और ग्रामोद्योग की प्रधानता

जिसे अहिंसा का पालन करना है, सत्य की आराधना करनी है, उसके लिए तो कायिक (शारीरिक) श्रम रामबाण रूप हो जाता है। यह श्रम वास्तव में देखा जाय तो खेती ही है। पर आज की जो स्थिति है, उसमें सब उसे नहीं कर सकते। इस लिए खेती का आदर्श ध्यान में रख कर आदमी एवज में दूसरा श्रम जैसे कताई, बुनाई, बढ़ईगिरी, लुहारी इत्यादि कर सकता है।

—गाँधी जी

जुआ सरासर जुआ है ही, पर श्रम-प्रधान कृषि और ग्रामोद्योग को छोड़ इधर के पैसे को उधर लगाने का अनुत्पादक रोजगार भी एक जुआ ही है। इसी लिए ऋषियों का सदा इसी पर जोर रहा कि कृषि को ही अपना मुख्य उद्योग बनाओ।

—शिवाजी भावे

[१]

खेती

मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति दो तरह के पदार्थों से होती है, एक तो उन पदार्थों से जो भूमि से पैदा किये जाते हैं, दूसरे उन पदार्थों से जो भूमि से उत्पन्न पदार्थों के, विविध क्रियाओं द्वारा बनाये जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य के जीवन-निर्वाह के लिए खेती और उद्योग

धंधों की अनिवार्य आवश्यकता है। संसार के समस्त पदार्थ इन्हीं दो श्रेणियों के अन्तर्गत है। हमें विचार करना है कि सर्वोदय अर्थव्यवस्था में इनका क्या रूप होना चाहिए। पहले खेती की बात लें।

खेती करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य और अधिकार—खेती से मनुष्य को मूल आवश्यकताओं की पूर्ति का सामान ही नहीं मिलता, इससे उसे स्वास्थ्य और सुख प्राप्त होता है, इसका उसके जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इसलिए खेती करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त आदमी को खेती करने में प्रकृति से सम्पर्क रहता है, इससे उसे एक विशेष प्रकार का आनन्द होता है। ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि कोई उसे इस आनन्द से वंचित न करे। भूमि की सेवा करने में आदमी प्रकृति माता की गोद में रहने का सा अनुभव करता है, जो उसका जन्म-सिद्ध अधिकार है। इस प्रकार आदर्श समाज रचना में खेती करना मनुष्य का कर्तव्य एवं अधिकार दोनों हैं।

श्री विनोबा ने कहा है—'दुनिया में खेती सर्वोत्तम व्यायाम या शरीर-परिश्रम माना जायगा। वहाँ पर स्वच्छ हवा मिलती है, सूर्य की किरणों का और आकाश का सेवन करने का मौका मिलता है, सब का समुचित सेवन होता है। उत्पादन होता है। फिर इसके साथ बोने का और फसल पैदा करने का सारा ब्रह्म कर्म मनुष्य देखता है। इसमें किसी का विरोध नहीं होना चाहिए।'*

खेती से बौद्धिक कार्यों का सुधार—प्रायः बुद्धिजीवी वर्ग को खेती का काम करना ठीक नहीं जँचता। लोगों की आम धारणा यह है कि यदि बुद्धिजीवी खेती करेंगे तो उनके द्वारा किये जाने वाले

---

* 'ग्राम राज', १ जून १९५५

विशेष कार्यों को धक्का पहुँचेगा, उनका ह्रास होगा। परन्तु विचार करने पर यह धारणा भ्रममूलक सिद्ध होगी। एक आदमी कोई एक ही काम करे, और रोज-रोज उसे ही करता रहे तो उसे वह नीरस प्रतीत होने लग सकता है। इसके विपरीत यदि उसके दैनिक कार्यक्रम में कुछ परिवर्तन होता रहे, वह कुछ समय ऐसा शरीर-श्रम करे जिसमें प्रकृति के निकट रहने का भी अवसर हो तो यह निश्चय है कि उसका बौद्धिक कार्य भी पहले से अच्छा होगा। श्री विनोबा ने पहले उद्धृत लेख में ही कहा है—'(आदर्श समाज-रचना में) न्यायाधीश चार घंटे खेती करेगा और बचे हुए समय में न्यायदान करेगा तो उसका न्यायदान अधिक अच्छा होगा। अध्यापक चार घंटे खेती करेगा और चार घंटे अध्यापन करेगा तो उसके अध्यापन में वास्तविकता और दिव्यता दोनों गुण आयेंगे। दोनों की, शिक्षण में बहुत जरूरत होती है। केवल वास्तविकता रही तो सामान्य व्यवहार का शिक्षण हो जाता है और केवल दिव्यता रही तो शिक्षण का वास्तविक जगत से सम्बन्ध नहीं रहता है। इसलिए कृषि-कर्म शिक्षण का सर्वोत्तम साधन है, क्योंकि उसमें दिव्यता और वास्तविकता दोनों आजाती हैं।

वर्तमान अवस्था में कृषि-कार्य से बहुत से लोगों का सीधा सम्बन्ध नहीं—वर्तमान अवस्था में बुद्धिजीवियों का कृषि-कार्य से कुछ वास्ता नहीं रहता। आदमियों को यह बात बड़ी अजीब मालूम होती है कि बौद्धिक कार्य करने वाला व्यक्ति खेती जैसा 'गंवारू' काम करे। फिर, आजकल उन्नत कहे जाने वाले देशों में खेती का जो काम होता है, वह अधिकतर यंत्रों से किया जाता है, जिसमें कृषि से प्रत्यक्ष सम्बन्ध बहुत कम लोगों का रहता है। अनेक दशाओं में एक-एक आदमी के पास बहुत बड़ी-बड़ी जमीनें हैं, जिन्हें वह स्वयं नहीं संभाल पाता; मालिक कहा जाने वाला व्यक्ति अपनी जमीन में दूसरे मजदूरों द्वारा खेती कराता है। इस दशा में जो लोग खेती का

वास्तविक कार्य करते हैं वे उसमें स्वतंत्रता-पूर्वक भाग नहीं लेते, दूसरे की अधीनता में रहते हैं, इसलिए उन्हें कृषि-कार्य से जितना मानसिक और सांस्कृतिक लाभ मिलना चाहिए, नहीं मिल पाता।

सुधार की आवश्यकता—आदर्श समाज-रचना की दृष्टि से यह परिस्थिति बहुत दूषित है। समाज में अधिक से अधिक लोगों का कृषि-कार्य से सीधा सम्बन्ध रहना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि यथा-सम्भव कोई आदमी निरा बौद्धिक कार्य करने वाला न हो, बुद्धिजीवी निर्धारित घंटे कृषि-कार्य अवश्य करे। अपवाद रूप कुछ विशेष दशाओं को छोड़कर खेती का काम यंत्रों द्वारा न होकर हाथ से तथा पशुओं की सहायता से किया जाय। किसी के पास इतनी अधिक भूमि न हो कि वह दूसरे मजदूरों से काम कराकर ही खेती का लाभ उठाता रहे। देश में खेती करने वालों की संख्या अधिक से अधिक होनी चाहिए; जब उन्हें खेती का काम न रहे, उस समय वह ग्रामोद्योगों का काम करे। किन्तु स्वास्थ्य और व्यक्तित्व-विकास के लिए अधिक से अधिक आदमी खेती का कुछ काम अवश्य करें।

छोटी खेती से विलक्षण लाभ—एडमांड जेकेली ने लिखा है—'यह तो प्रत्यक्ष है कि छोटे खेतों पर बाहर रहने और स्वच्छ वायु और धूप में तीन घंटे प्रतिदिन काम करने वालों का स्वास्थ्य शहरों में किसी डेस्क या मशीन पर झुके रहने वाले से कहीं अच्छा होगा। वर्तमान व्यवस्था की यांत्रिक पद्धति के अन्दर काम करने वाला नागरिक अपनी प्रकृति-प्रदत्त योग्यताओं को खो देता है और बहुत जल्द खुद एक यन्त्र बन जाता है। इसके विपरीत, छोटे खेतीहरों का जीवन सृजनात्मक क्रियाओं की विविधताओं से भरा रहता है। बाग और खेत में पौधों और वृक्षों के साथ काम उसे प्रकृति के नियमों

के निरीक्षण में मदद पहुँचाता है। अन्य शारीरिक श्रम उसके कौशल और क्षमता को बढ़ाता है। उसके काम में एकाकीपन नहीं होगा और जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण ताजे और मौलिक होंगे। छोटे खेतीहरों के दैनिक जीवन में काम, अभिरुचि, विविधता, आनन्द और शिक्षा सभी मेल खाते हैं। जो वह करता है, वह उसकी शिक्षा भी है। जीवन-निर्वाह के योग्य खेती पर निर्वाह करना एक आर्थिक और शिक्षा का काम है। यह मनुष्य को सोचने का मौका देता है। यह व्यवहारिक रूप से अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण और स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने की संभावना को दर्शाता है।*

[२]

ग्रामोद्योग

ग्रामोद्योगों की प्रधानता क्यों हो?—खेती की बात यहाँ समाप्त कर अब उद्योगों का विषय लें। सर्वोदय समाज का लक्ष्य सामने रखते हुए हमें उद्योग धंधों में भी समाज के निचले दर्जे से काम आरम्भ करना चाहिए। भारत गांवों में बसता है। इसलिए गांवों की उन्नति की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। अथवा यों कहें कि हमें अपनी औद्योगिक व्यवस्था ऐसी करनी चाहिए कि देश में कोई आदमी बेकार या बेरोजगार न रहे। यंत्रोद्योग हमारे सब आदमियों को रोजगार नहीं दे सकते। यह ठीक है कि कल कारखानों में लगे हुए आदमियों को अन्य श्रमजीवियों की अपेक्षा अधिक वेतन मिलता है, परन्तु सामूहिक दृष्टि से यह लाभकारी न होकर हानिकर ही है। प्रथम तो कल-कारखानों के वातावरण में मजदूरों का रहनसहन ऐसा होता है कि अन्य मजदूरों की अपेक्षा अधिक वेतन पाने पर भी वे कुछ अधिक सुखमय जीवन नहीं बिता पाते। दूसरी विचारणीय बात यह है कि यदि किसी हाथ-धंधे में एक हजार मजदूर लगे हैं

*'भूदान' के भू-यज्ञ-जयन्ती अंक (सितम्बर ५३) से संकलित।

और एक रुपया रोज की कमायी कर लेते हैं, तो अगर कारखाने के चलने से इनका धंधा नष्ट होकर केवल सौ आदमियों को काम मिलता है तो नौ सौ आदमियों की बेकारी का विचार करके इस परिवर्तन को किसी प्रकार लोकहितकारी नहीं कहा जा सकता, चाहे कल कारखाने में लगे सौ आदमियों की रोजाना आय तीन-तीन या चार-चार रुपये ही क्यों न हो।

उद्योगों का लक्ष्य उत्पादन में वृद्धि नहीं, अधिक से अधिक लोगों को रोजगार देना है—कुछ आदमी यह कह दिया करते हैं कि यन्त्रोद्योगों अर्थात् कल-कारखानों से उत्पादन में खूब-वृद्धि होती है, इसलिए देश में उन्हें बढ़ाना चाहिए। परन्तु सोचना यह चाहिए कि हमारा लक्ष्य उत्पादन में वृद्धि करना है या अधिक से जनता को रोजगार के रूप में उन्हें भोजन-वस्त्र देना और उनकी निर्धनता या कंगाली दूर करना है। भारतवर्ष में इस समय दो करोड़ आदमी ग्रामोद्योगों में काम कर रहे हैं। इनमें वे लोग सम्मिलित नहीं हैं जो कृषि-कार्य को करते हुए अपने अवकाश के समय ग्रामोद्योग का कार्य करते हैं। ये सब लोगकाम में लगे रहें तथा दूसरों को भी यह काम मिले इसके लिए यदि यन्त्रोद्योगों और ग्रामोद्योगों में से किसी एक को चुनना है तो अवश्य ही ग्रामोद्योग को स्वीकार करना होगा। इसका एक मुख्य कारण यह है कि यन्त्रोद्योगों की व्यवस्था करने में बड़ी धन-राशि की आवश्यकता होती है, जो बड़े-बड़े पूँजीपति ही लगा सकते हैं, जब कि ग्रामोद्योगों के लिए यह बात नहीं होती, उनके लिए आवश्यक साधन सहज ही जुटाये जा सकते हैं। अस्तु, जब कि उद्योग धन्धों का लक्ष्य अधिक से अधिक जनता को रोजगार देना हो तो अर्थव्यवस्था में ग्रामोद्योगों अर्थात् छोटे पैमाने के उद्योगों को ही प्रमुखता मिलनी चाहिए।

योजनाकारों की भूल—प्रायः अधिकारी बड़ी बड़ी योजनाएँ बनाते और बड़े पैमाने के कहे जाने वाले उद्योग-धन्धों की ओर

आकर्षित रहते हैं, वे ऊपर कही हुई बात की उपेक्षा करते हैं। भारत में यही हो रहा है। जैसा कि श्री मगनभाई देसाई ने दूसरी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत उद्योग-विकास के प्रश्न पर 'हरिजन सेवक' में कहा है, 'योजनाकार छोटे पैमाने के उद्योगों के इस मुख्य और अनोखे गुण को समझ गये हैं कि उनमें कम पूँजी की जरूरत होती है और वे तत्काल विशाल मात्रा में राष्ट्र को रोजाना उपयोग की चीजें दे सकते हैं। लेकिन उन उद्योगों के बारे में जो सबसे महत्व की बात योजनाकार भूल जाते हैं, वह यह है कि वे भारी संख्या में लोगों को काम देने की शक्ति रखते हैं और खरीद-शक्ति का न्यायपूर्ण बँटवारा करने का उम्दा गुण भी रखते हैं। इसके अलावा, ये उद्योग प्रजा के ऐसे भाग की हालत को सुधारते हैं, जिसकी तरफ सबसे पहले ध्यान दिया जाना चाहिए।'

व्यापार-वृद्धि का भ्रम—कुछ आदमी चाहते हैं कि हमारे देश का व्यापार खूब बढ़े; उन्हें छोटे पैमाने के उद्योगों की बात अच्छी न लगेगी, जिससे व्यापार का क्षेत्र या परिमाण सीमित होता है। परन्तु हम जरा विचार करें। आजकल व्यापार के नाम पर कितनी मुनाफेखोरी, लूट या शोषण हो रहा है। शहर वाले गाँवों का शोषण करते हैं, देश के औद्योगिक नगर आसपास के शहरों का शोषण करते हैं; और हरेक देश जहाँ तक उसका वश चलता है दूसरे देशों का शोषण करने को उत्सुक रहता है। उन्नत और औद्योगिक कहे जाने वाले देश अपना तैयार माल दूसरे देशों में खपाने के लिए चाहे-जैसे उपायों से काम लेते हैं, और आपस में एक-दूसरे से प्रतियोगिता करते हैं। इससे अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति और तनातनी का वातावरण बना रहता है। इसलिए हमें व्यापार वृद्धि के भ्रम में न पड़ कर छोटे पैमाने के उद्योगों को अपनाना चाहिए।

ग्रामोद्योगों के संरक्षण की आवश्यकता—छोटे पैमाने के उद्योग इतने उपयोगी होते हुए भी मिलों और कारखानों में बने 'सस्ते'

सामान के सामने नहीं टिक सकते। [मिलों का सामान वास्तव में सस्ता नहीं है—यदि हम राज्य द्वारा दी हुई सहूलियतों आदि का विचार करें—पर हम यहाँ इसके विवेचन में नहीं जा रहे हैं।] उदाहरण के लिए हाथ-करघे से बुना कपड़ा मिल में तैयार हुए सस्ते और सुन्दर कपड़े का मुकाबला कैसे कर सकता है! जब आदमी के सामने दोनों तरह का कपड़ा आता है तो साधारणतया वह मिल का ही पसन्द करता है। अब यदि सरकार हाथ-करघे के बुने कपड़े को कुछ सुविधाएँ या आर्थिक सहायता देकर किसी हद तक सस्ता करती है तो उससे भी उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वह मिल के कपड़ों से तो महंगा ही रहने वाला है। फिर, सरकारी सहायता उसे कब तक मिल सकती है, और उसके बल पर वह कब अपने पैरों पर खड़ा होने योग्य होगा! इसलिए अगर उसे जीवित रखना है तो ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि मशीन और हाथ-करघे के बीच प्रतिस्पर्धा का प्रश्न ही न रहे। कुछ खास-खास प्रकार के कपड़े को बनाने के लिए केवल हाथ-करघों को ही अनुमति रहे, बाजार में मिल के बने उस तरह के माल का प्रवेश निषिद्ध हो। क्रमशः इस नीति का क्षेत्र बढ़ाया जाय, अर्थात् हाथ करघे के कपड़े का एकाधिकार क्षेत्र बढ़ता जाय। इसी प्रकार अन्य पदार्थों के बारे में विचार हो, खासकर मूल आवश्यकताओं खाने पहिनने आदि—की पूर्ति करने वाले पदार्थों को मिल के माल की प्रतिस्पर्द्धा से सुरक्षित कर दिया जाय।

यदि सरकार ऐसा कार्यक्रम अपनाने में असमर्थ हो तो लोकहितैषी सज्जनों को अपने-अपने क्षेत्र में मिलों के माल का बहिष्कार करके तथा ग्रामोद्योगी सामान के उपयोग का आग्रह करके क्रमशः अनुकूल लोकमत निर्माण करना और लोकशक्ति जाग्रत करनी चाहिए। उनके द्वारा यथेष्ट प्रयत्न होने पर सरकार को भी इस ओर ध्यान देना पड़ेगा।

यंत्र मात्र का विरोध नहीं—यहाँ एक बात स्पष्ट कर देनी है। कुछ लोगों का ख्याल है कि सर्वोदय व्यवस्था में यन्त्रों का कोई स्थान नहीं। यह धारणा गलत है। गाँधी जी ने कहा है—'मेरा विरोध यन्त्रों के सम्बन्ध में फैले दीवानेपन के साथ है, यन्त्रों के साथ नहीं। परिश्रम की बचत इस हद तक की जाती है कि हजारों को आखिर भूखा मरना पड़ता है, और उन्हें बदन ढकने तक को कुछ नहीं मिलता। समय और परिश्रम का बचाव करके मुट्ठी भर आदमी धनी हो बैठें, यह मेरे लिए असह्य है। मैं तो चाहता हूँ, हर एक का समय और परिश्रम बच जाय, सबको खाना मिल सके, सब पहन-ओढ़ सकें सर्वोदय हो। यही मेरी अभिलाषा है। आज यन्त्रों के कारण लाखों की पीठ पर मुट्ठी भर आदमी सवार हो बैठे हैं और उन्हें सता रहे हैं, क्योंकि इन यन्त्रों के चलाने के मूल में लोभ है, तृष्णा है, जन कल्याण की भावना नहीं है।'

यंत्रों के उपयोग की मर्यादा—अस्तु, सर्वोदय व्यवस्था में यन्त्र मात्र का विरोध नहीं हैं, हाँ, उसमें यह विचार करना होता है कि किस प्रकार के यन्त्रों का उपयोग, कैसे कार्य के लिए किया जाय। इस दृष्टि से यन्त्रों के चार भेद किये जा सकते हैं—मारक, तारक, सहायक, और समय-साधक। (१) तोप, बन्दूक, बम आदि विनाशकारी यन्त्र मारक हैं। इनका उपयोग नहीं किया जाना चाहिए। जिन यन्त्रों से आदमी की बेरोजगारी बढ़ती है, तथा बैलों का काम छिनता है, वे भी इसी श्रेणी में आते हैं। इस दृष्टि से कपड़े, चीनी, चावल या, दाल या आटे आदि की मशीनों और ट्रैक्टरों का उपयोग साधारणतया नहीं किया जाना चाहिए। ट्रैक्टरों का उपयोग विशेष आवश्यकता के समय नयी भूमि को तैयार करने के लिए किया जा सकता सकता है। (२) जिन यन्त्रों से आदमी और बैल आदि पशु उत्पादक

कार्य करते हैं, वे तारक यन्त्र हैं, जैसे चर्खा, करघा, कोल्हू, चक्की, हल, आदि। इनका यथेष्ट उपयोग किया जाना चाहिए। (३) जिन यन्त्रों से ग्रामोद्योगी यन्त्र बनाने में सहायता मिलती है, वे सहायक यन्त्र हैं; जैसे लुहार, बढ़ई आदि के औजार बनाने में काम आने वाले बड़े यन्त्र। इनका आवश्यकतानुसार उपयोग किया जाना चाहिए। (४) यातायात, सामान या सम्वाद भेजने में जिन यन्त्रों से समय की बचत होती या सुविधा मिलती है, वे समय-साधक या गत्युत्पादक यन्त्र हैं। जैसे रेल, जहाज, मोटर, घड़ी, तार, रेडियो, हवाई जहाज आदि। इनका उपयोग सोच समझ कर करना चाहिए, अर्थात् उसी दशा में होना उचित है, जब इससे अभीष्ठ उद्देश्य सिद्ध होता हो। केवल शौकीनी, आरामतलबी आदि के लिए इनका उपयोग नहीं किया जाना चाहिए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कोई यन्त्र शाश्वत रूप से ग्राह्य या अग्राह्य नहीं ठहराया जा सकता। एक यन्त्र का उपयोग एक परिस्थिति में हानिकर होते हुए भी दूसरी परिस्थिति में लाभकारी हो सकता है, इस प्रकार उनका उपयोग देश-काल का विचार रखकर ही करना उचित है।

विशेष वक्तव्य—स्पष्ट है कि नयी समाज-रचना में यन्त्रोद्योगों का सर्वथा बहिष्कार करने की बात नहीं है। वे रहेंगे, परन्तु विशेष परिस्थितियों में, और परिमित सीमा तक। इस विषय में कुछ अन्यत्र भी लिखा गया है। यहाँ इस बात पर जोर देना है कि सर्वोदय विचार-धारा वाले समाज में खेती और छोटे पैमाने के उद्योगों की प्रधानता रहेगी। इसके कारण ऊपर बताये जा चुके हैं।

तीसरा खंड

व्यक्ति का विकास

आखिर, हमारी बुनियाद व्यक्ति पर होगी। इसका यह मतलब नहीं कि पड़ोसियों पर या दुनिया पर भरोसा न रखा जाय, या उनकी राजी खुशी से दी हुई मदद न ली जाय। ख्याल यह है कि सब आजाद होंगे और सब एक दूसरे पर अपना असर डाल सकेंगे।

—गाँधी जी

मेरे निकट आदमी से ऊपर और कोई नहीं है। मेरे लिए मानव और केवल मानव ही सब वस्तुओं और विचारों का निर्माता है, सबसे बड़ा जादूगर है। भविष्य में वही प्रकृति का पूर्ण स्वामी होगा। हमारी दुनिया में सुन्दरतम वस्तुएँ मानव के श्रम द्वारा निर्मित हैं, उसी के हाथों ने उसे गढ़ा है। हमारे सब विचार आदि श्रम पर ही आधारित हैं, इस बात का ज्ञान हमें दस्तकारी, कला और विज्ञान के इतिहास से हो जाता है। मैं मानव के आगे सिर झुकाता हूँ, क्योंकि उसके विचार और उसकी कल्पना की मूर्तियों के सिवा न मुझे संसार में कुछ दिखायी देता है, न महसूस होता है।'

—अज्ञात

पंद्रहवां अध्याय

व्यक्ति और समाज

इस तरह की समाज-रचना सम्भव और वांछनीय है, जिसमें समाज के प्रत्येक सदस्य को अपने नैतिक, सांस्कृतिक और भौतिक विकास का अधिकतम अवसर मिल सके, जिसमें समाज को प्राप्त सभी साधनों का संतुलित उपयोग इस विकास के लिए हो सके।

—जवाहिरलाल जैन

व्यक्ति और समाज दोनों एक दूसरे पर आश्रित, एक दूसरे के पूरक और एक दूसरे की उन्नति के लिए हैं। अतः दोनों का चरम विकास ही समन्वयवाद का लक्ष्य है।

—'पांचजन्य'

मनुष्य सामाजिक प्राणी है—मनुष्य अकेला रह कर अपना निर्वाह भी नहीं कर सकता, उसे जीवित रहने के लिए समाज में रहना होता है। उसे अपने जन्म के बाद काफी समय तक माता-पिता की सहायता और संरक्षण की आवश्यकता बनी रहती है। ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता है, वह दूसरे लोगों के सम्पर्क में आता है। उसे अपनी भौतिक तथा मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों के सहयोग और संगति की जरूरत होती है। इस प्रकार सामाजिक जीवन उसके लिए अनिवार्य है।

व्यक्ति और समाज, दोनों का एक-दूसरे के लिए उपयोग—ऊपर कहा गया है कि अकेले रहने की दशा में मनुष्य का

जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त वह अकेला रहते हुए अपना विकास भी नहीं कर सकता। विकास का यथेष्ट अवसर उसे सामाजिक जीवन में ही मिलता है। उदाहरण के लिए यदि हम अकेले रहें तो हम किससे प्रेम का व्यवहार करेंगे, किस प्रकार भ्रातृत्व, त्याग, अक्रोध, क्षमा या सत्य आदि का परिचय देंगे। मनुष्य के इन गुणों की वृद्धि और विकास में उसे सामाजिक जीवन से बहुत सहायता मिली है।

दूसरी ओर, व्यक्तियों की उन्नति और विकास से समाज को बहुत लाभ हुआ है। समय-समय पर कुछ विशेष प्रतिभाशाली तेजस्वी महापुरुषों ने सामाजिक कुरीतियों को मिटाया, रूढ़ियों और परम्पराओं का संशोधन किया, नयी मान्यताएँ स्थापित की, जनता को अंधकार से प्रकाश के पथ पर आगे बढ़ाया, जिससे आवश्यक सुधार होकर सामाजिक प्रगति हुई। इस तरह व्यक्ति और समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है, प्रश्न यह है कि इनके इस आपसी सम्बन्ध की क्या मर्यादा रहे।

व्यक्ति और समाज की मर्यादा; (१) व्यक्ति समाज के लिए—एक विचारधारा यह है कि समाज साध्य है, व्यक्ति उसके लिए साधन मात्र हैं। जैसी परिस्थितियाँ या समाज होता है, वैसा वह बन जाता है; उसके जीवन में जो नैतिक या आध्यात्मिक मूल्य होते हैं उनमें खास उसका भाग नहीं होता, उनका मुख्य कारण तत्कालीन आर्थिक तथा अन्य परिस्थितियाँ होती हैं। व्यक्ति पर सामाजिक (आर्थिक, राजनैतिक आदि) वातावरण का प्रभाव पड़ता है और इससे उसमें विविध गुण-दुर्गुण, अच्छाई और बुराइयाँ आ जाती हैं। उदाहरण के लिए यदि खाद्य पदार्थों की कमी हो, तो हरेक उसे लेने के लिए बेसब्र रहता है, उसकी इच्छा होती है कि पहले मुझे मिल जाय, और इसके लिए उसे चतुराई, चालाकी, जोर-जबरदस्ती, झूठ,

चोरी, आदि का उपयोग करने की प्रवृत्ति होती है। परन्तु पैदावार खूब बढ़ जाने पर आदमी को यह भरोसा रहता है कि मेरी आवश्यकता पूरी होने में कोई संशय नहीं है। उसे अपने लिए लेने की कोई जल्दी नहीं होती और कोई ऐसा-वैसा उपाय काम में लाने की जरूरत ही नहीं रहती। यहाँ तक कि वह दूसरे आदमियों में उस चीज को बांटने में बहुत उदारता आदि का परिचय देता है। इसी प्रकार परिस्थिति-परिवर्तन से मनुष्य के व्यवहार में परिवर्तन होने के अन्य उदाहरणों का विचार किया जा सकता है। इस विचारधारा को प्रधानता देने वालों का कथन है कि आम तौर से आदमी अपने देश-काल से बहुत भिन्न नहीं रहता। समाज की परिस्थिति बदलने से व्यक्ति में स्वयं सुधार हो जाता है, इसलिए समाज की ओर ही हमारा ध्यान रहे; व्यक्ति उसके अधीन उसका एक अंग है, वह समाज के लिए है, उसकी स्वतंत्रता या विकास का कोई प्रश्न ही नहीं।

यह विचार-धारा थोड़े समय से ही फैली है, और खासकर यूरोप से आयी है, अब तो यह भारत आदि में भी जोर पकड़ रही है।

(२) **समाज व्यक्ति के लिए है**—दूसरी विचारधारा प्राचीन है। इसके अनुसार व्यक्ति प्रधान है। समाज आखिर व्यक्तियों से ही बनता है। समय-समय पर ऐसे व्यक्ति होते रहते हैं, जिनमें विशेष प्रतिभा या साहस आदि होता है। वे समाज की प्रचलित रूढ़ियों या संस्कारों के प्रति विद्रोह की आवाज उठाते हैं, समाज का नेतृत्व करते हैं, पुरानी परम्पराओं और मान्यताओं को बदल डालते हैं और समाज का कायाकल्प करके नया निर्माण कर देते हैं। इस प्रकार समाज का स्वरूप बहुत कुछ उसके व्यक्तियों पर निर्भर है इस विचार-धारा के अनुसार जैसे व्यक्ति होंगे, वैसा ही समाज बनेगा। इसलिए व्यक्ति अपने सुधार और उन्नति के लिए

जैसा आवश्यक या उचित समझे प्रयत्न करे। वह अपना व्यवहार या कार्यप्रणाली निश्चित करे। समाज का उस पर नियन्त्रण बहुत सीमित अर्थात् कम से कम रहना चाहिए। व्यक्ति को अपने व्यवहार में अधिक से अधिक स्वतंत्रता रहनी चाहिए। वे अपना भला-बुरा स्वयं सोच सकते हैं। समाज का विशेष हस्तक्षेप अनुचित है।

दोनों विचारधाराएँ एकांगी हैं—उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोण अपूर्ण तथा एकांगी है। पहली विचारधारा के कार्यरूप में आने से जहाँ परिस्थितियाँ बदल गयीं, वहाँ भी व्यक्ति नहीं बदला। आर्थिक अनुकूलता और सुविधाओं वाले क्षेत्रों में भी आदमी में ईर्ष्या-द्वेष, परिग्रह की भावना, अधिकारों की भूख बढ़ी है।

दूसरी विचारधारा की प्रधानता के परिणाम-स्वरूप हम देखते हैं कि भारत में अनेक व्यक्ति अपने नैतिक और आध्यात्मिक गुणों के कारण बहुत ऊँचे उठे, संसार भर में उन महापुरुषों को प्रशंसा और प्रतिष्ठा है। उनसे समाज भी कुछ प्रभावित तो हुआ परन्तु उन महापुरुषों की संख्या और ऊँचे स्तर की तुलना में हमारे जन-साधारण का नैतिक या आध्यामिक धरातल ऊँचा नहीं उठा। बात यह हुई कि इन महापुरुषों ने अपनी व्यक्तिगत साधना के लिए चाहे जितना परिश्रम और त्याग किया तथा कष्ट सहा, उन्होंने समाज की स्थिति को सुधारने और सामाजिक समस्याओं को सामूहिक रूप से हल करने की प्रायः उपेक्षा ही की।

दोनों के समन्वय की आवश्यकता—आवश्यकता है कि इन दोनों विचार-धाराओं में से किसी एक को न अपना कर दोनों का सुन्दर समन्वय किया जाय। बात यह है कि यद्यपि सामाजिक परिस्थितियाँ व्यक्ति को प्रभावित करती हैं, और मनुष्य का आचरण एक सीमा तक उनके अनुसार होने की सम्भावना होती है, परन्तु

इससे अधिक तत्व की बात यह है कि परिस्थिति को बनाने वाला व्यक्ति ही होता है, उनके निर्माण में उसका बड़ा भाग होता है। इसी प्रकार यद्यपि व्यक्ति से समाज बनता है, लेकिन समाज का प्रभाव भी व्यक्ति पर पड़े बिना नहीं रहता। इसलिए न तो व्यक्ति की ही उपेक्षा की जानी चाहिए और न समाज की ही; वरन् दोनों का ही सम्यक् ध्यान रखा जाना चाहिए।

गाँधी जी का विचार—आधुनिक काल में इस ओर विशेष ध्यान दिलाने का, और दोनों विचारधाराओं के समन्वय के आधार पर एक नया जीवन-दर्शन उपस्थित करने का श्रेय गाँधी जी को है। उनका कथन है—'मैं व्यक्ति की स्वतंत्रता की कद्र करता हूँ, लेकिन आपको यह न भूलना चाहिए कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह अपने व्यक्तिवाद को सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओं से निभाना सीख कर ही अपनी वर्तमान हालत तक पहुँच सका है। नियन्त्रणहीन व्यक्तिवाद जंगल के जानवरों का नियम है। मनुष्य ने सामाजिक प्रतिबन्ध और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बीच संतुलन करना सीखा है। पूर्ण समाज के हित के लिए सामाजिक प्रतिबन्धों को अपने आप मान लेना व्यक्ति और समाज दोनों के लिए लाभदायक है।' गाँधी जी मानते थे कि 'आखिर हमारी बुनियाद व्यक्ति पर होगी।' उनके मतानुसार व्यक्ति का व्यक्तित्व ही सारी प्रगति का मूल है अतः किसी भी दशा में व्यक्ति की स्वतंत्रता का अपहरण नहीं किया जाना चाहिए। समाज-संगठन व्यक्ति के हित-साधन के लिए है न कि व्यक्ति इस संगठन के लिए; हाँ, व्यक्ति का सर्वथा अनियन्त्रित रहना ठीक नहीं, उसे समाजहित की दृष्टि से अपने ऊपर नियन्त्रण रखना चाहिए। इस प्रकार एक सीमा तक समाज का भी उस पर नियन्त्रण रह सकता है, पर उस नियन्त्रण की मात्रा तथा प्रकार ऐसा हो कि व्यक्ति की अधिक से अधिक स्वतंत्रता बनी रहे। इसी

विचार में से-अर्थ रचना और राज्य-रचना के विकेन्द्रित होने की बात निकली है, जिसके सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है।

समाज-व्यवस्था का उद्देश्य, व्यक्ति का विकास—ध्यान में रखने की बात यह है कि समाज-व्यवस्था सम्बन्धी प्रत्येक कार्य या योजना का लक्ष्य व्यक्ति का विकास होना चाहिए, उससे व्यक्तियों को विकास का अधिक से अधिक अवसर मिलना चाहिए। समाज का कोई भी साधन ऐसा न हो जो सब के उपयोग के लिए खुला न हो; कोई संस्था ऐसी न हो जिसका उपयोग करने से कोई व्यक्ति जाति, धर्म या वर्ण आदि के कारण वंचित रहे। इस प्रकार जो बात—वह राजनैतिक क्षेत्र की हो या आर्थिक की, शिक्षा सम्बन्धी हो या संस्कृति और धर्म सम्बन्धी-व्यक्ति के विकास में बाधक हो, वह कदापि मान्य नहीं है, उसे किसी भी आधार पर प्रोत्साहन न मिलना चाहिए। इस समय विविध क्षेत्रों में अनेक वाद चल रहे हैं, और नये-नये प्रचलित हो रहे हैं। हमारे लिए प्रत्येक वाद की कसौटी व्यक्ति का विकास या मानवहित है; जो इस पर ठीक नहीं उतरता, वह त्याज्य है।

व्यक्ति-स्वातंत्र्य और व्यक्ति-विकास की आवश्यकता—सर्वोदय दृष्टि से समाज-व्यवस्था में व्यक्ति-स्वातंत्र्य और व्यक्ति-विकास पर खास जोर देने की जरुरत है। 'प्रत्येक व्यक्ति में कोई-न-कोई गुण प्रकट होता ही है। उनको अपने सम्पूर्ण रुप में प्रकट होने की सुविधा देना व्यक्ति-स्वातंत्र्य है। स्वातंत्र्य का तात्पर्य उच्छृंखलता भी नहीं है, अपनी इच्छानुसार समस्त कार्य करना भी नहीं है। स्वातंत्र्य का अर्थ संयम और मर्यादा है, जिससे विकास का प्रवाह अग्रसर हो। नदी के कूल किनारे ठीक न रहने पर वह आगे बढ़ने के बजाय चारो ओर फैल कर नष्ट हो जाती है। व्यक्ति का स्वातंत्र्य का अर्थ समाज-व्यवस्था के नियमों का यथाविधि पालन करने के साथ-साथ अपनी विशिष्ट

प्रतिभाओं को समाज-हिताय अभिव्यक्त करना है। समाज-व्यवस्था वही सर्वश्रेष्ठ हो सकती है जो व्यक्ति के स्वाभाविक विकास की गति को बढ़ाये, घटाये नहीं। आज ऐसी ही समाज-व्यवस्थाएँ दिखायी देती हैं, उनका भली भांति संस्कार कर उन्हें व्यक्ति-हितकारक बनाना होगा।'*

आदर्श समाज-व्यवस्था—समाज की आदर्श व्यवस्था में दो बातें आवश्यक हैं—(१) व्यक्ति के कारण अथवा कुछ व्यक्तियों से बनने वाले गुटों या सम्प्रदायों के कारण सम्पूर्ण समाज या मानवता के हितों पर चोट न पहुँचे और संसार का यह संगठन देश और राष्ट्रों की परिधियों को पार करता हुआ क्रमशः विश्व भर में व्याप्त हो सके; (२) समाज अथवा राज्य, तथा जाति, विवाह, परिवार आदि संस्थाओं के कारण व्यक्ति के विकास में बाधा न पहुँचे वरन् सहायता ही मिले; व्यक्ति अकेला रह कर जितनी गति से अपने विकास की साधना कर सकता है, उससे अधिक गति उसे इन समाज-संस्थाओं के कारण प्राप्त हो सके तथा इस प्रकार व्यक्ति का अपना और सामूहिक रूप से समाज का मोक्ष-साधन शीघ्र से शीघ्र लाया जा सके।*

व्यक्ति स्वतंत्र होने के साथ मर्यादित भी हो—जब हम व्यक्ति स्वातंत्र्य की बात कहते हैं तो उसमें व्यक्ति के मर्यादित या अनुशासित रहने की बात आ ही जाती है। पर कुछ लोग स्वातंत्र्य का बहुत संकुचित अर्थ लेते है। उस दृष्टि से हम कहेंगे कि व्यक्ति आदर्श समाज में स्वतंत्र भी हो और मर्यादित भी। व्यक्ति अपने समाज-हित सम्बन्धी कर्तव्य का निरन्तर ध्यान रखे, और स्वेच्छापूर्वक, बिना राज्य आदि के किसी बाहरी दबाव के, अनुशासित हो—इस विषय पर हमने अपनी 'राजव्यवस्था, सर्वोदय दृष्टि से' पुस्तक में खुलासा लिखा है। उसे यहाँ न दोहरा कर एक दूसरी बात का उल्लेख करना

---

*'पांचजन्य'-समाज-भूमिकांक, १५ मार्च १६५४

है। अपने यहाँ (भारत) की प्राचीन समाज-व्यवस्था में यही आदर्श पाया जाता है। विचार की उसे पूर्ण स्वतंत्रता है, पर व्यवहार में वह सामाजिक नियमों से बँधा हुआ है। चाहे विचारों में कोई नास्तिक ही क्यों न हो, पर यदि वह सामाजिक नियमों का पालन करता है, तो उसे बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि इसमें कोई त्रुटि हुई और विचारों में वह आस्तिक ही क्यों न हो, तो फिर उसके लिये समाज में स्थान नहीं। कहा जा सकता है कि 'विचारों के अनुसार ही तो व्यवहार होता है।' किसी अंश तक यह सत्य भी है। पर साथ ही यह बात भी है कि समाज का भी विचारों पर प्रभाव पड़ता है। १

व्यक्ति और समाज दोनों का सुधार एक साथ हो सकता है—यह प्रश्न हो सकता है कि क्या व्यक्ति और समाज दोनों का सुधार एक साथ हो सकता है इसका उत्तर है कि अवश्य हो सकता है, और खासकर भारत में इस समय इसी दिशा में प्रयत्न हो रहा है। आचार्य कृपलानी ने कहा है—'विनोबा जी अपने गुरु का अनुसरण करते हुए व्यक्ति और समाज का सुधार एक साथ करना चाहते हैं। प्राचीन संतों ने कहा है, अपने आपको सुधारो तो दुनिया सुधर जायगी।' गाँधीजी ने कहा—'दुनिया को सुधारने की प्रक्रिया में ही अपने आपको सुधारो।' यह द्विविध क्रिया साथ-साथ चलनी चाहिए। एक प्रक्रिया से दूसरी प्रक्रिया में मदद मिलनी चाहिए। तुम समाज को जैसा रूप देना चाहते हो, उसके लिए अपने हृदय-परिवर्तन से आरम्भ करो और अनुरूप कर्म से उसके अनुकूल मनोवृत्ति का विकास करो। गाँधीजी ने भारत की स्वतंत्रता के लिए जिस आन्दोलन का सत्याग्रह के द्वारा उपक्रम किया, उसे वे आत्म-शुद्धि का प्रयोग कहा करते थे। वही विनोबा की धारणा है। गाँधीजी की तरह वे भी चाहते हैं कि व्यक्तिगत जीवन का सामाजिक जीवन के साथ नीति-धर्म के आधार पर सामंजस्य हो। २

१ 'सिद्धान्त' १३-६-५५

२ 'भूदान-यज्ञ' १६ सितम्बर'५५

सोलहवाँ अध्याय

आत्म-निर्माण

पहला पूँजीवादी तो हमारा शरीर है, जो पूँजीवादी समाज में पला हुआ है। इसको आलस चाहिए, भोग चाहिए। इसलिए पहली लड़ाई तो इसके खिलाफ लड़नी होगी।

—विनोबा

सभ्यता तब ही सभ्यता कहला सकती है, जब उसके अन्दर सब के भले की इच्छा सब तरफ समाई हुई हो। इतना ही नहीं, हरेक के अन्दर दूसरे के साथ प्रेम और हमदर्दी हो और उसी के अनुसार अमल हो। यह अमल ठीक तभी हो सकता है जब हम में अपने ऊपर काबू हो, खान-पान और सब चीजों में एक बीच का रास्ता हो, हिम्मत हो, बरदाश्त हो और अपना फर्ज पूरा करने की जबरदस्त लगन हो।

—डा० भगवानदास

आज ऐसी हालत पैदा हो गयी है कि समाज में परिवर्तन अगर नहीं होता तो मुल्क का अन्त निकट है। लेकिन प्रथम परिवर्तन तो अपना ही करना होगा। प्रारम्भ भी 'प्रथम पुरुष' एक वचन से ही किया जाता है।

—रविशंकर महाराज

समाज-रचना और आत्म-निर्माण—समाज-रचना के प्रसंग में हम बहुत सी बातों का विचार किया करते हैं, उनकी आवश्यकता हम भली भाँति जानते हैं। पर हम प्राय: भूल जाते हैं कि समाज-रचना की तह में आत्म-निर्माण का प्रश्न प्रमुख है।

एक विचारणीय दृष्टान्त, इस विषय में, आगे लिखी घटना से मिलता है। एक आदमी सवेरे नाश्ते के समय अखबार पढ़ रहा था। उसका लड़का पास में बहुत शोर मचा रहा था। उसे चुप करने के लिए पिता ने अखबार का एक पन्ना, जिस पर दुनिया का नक्शा था, टुकड़े-टुकड़े कर दिया और लड़के से कहा कि उन टुकड़ों का मेल बैठाये। लड़के को सचित्र वर्ग-पहेलियों आदि का शौक था, उसने थोड़ी देर में दुनिया का नक्शा ठीक जोड़ दिया। पिता को बहुत आश्चर्य हुआ और उसने लड़के से इसका रहस्य पूछा। लड़के ने जवाब दिया कि मैंने देख लिया था कि दुनिया के नक्शे की पीठ पर एक आदमी का चित्र है। मैंने आदमी को ठीक जोड़ दिया, बस दुनिया ठीक हो गयी।

लड़के का अन्तिम वाक्य कितना अर्थ-पूर्ण है। इसमें कितनी सच्चाई है। घर हो, परिवार हो, समाज हो, देश या दुनिया हो—किसी को ठीक करने के लिए आदमी को ठीक होना होगा। हर तरह की नव-रचना के वास्ते व्यक्ति का निर्माण सब से पहले जरूरी है, सब कुछ आत्म-निर्माण पर निर्भर है।

समय के सदुपयोग की आवश्यकता—आत्म-निर्माण के लिए सत्संग, सद्विचार, सद्ग्रंथावलोकन आदि कई बातें बहुत उपयोगी हैं। पर इन सब की कुंजी समय का सदुपयोग कही जा सकती है। प्रायः हम इस बात को भूले ही रहते हैं। हम किसी से बातें करने लगते हैं तो कितना ही समय ऐसी गपशप में लगा देते हैं, जिससे न हमें कुछ लाभ होता है और न दूसरों को ही। इसके विपरीत, अनेक दशाओं में उससे हमारे मन को दूषित भोजन मिलता है। हम अखबार पढ़ने बैठते हैं तो बहुधा उसकी अनावश्यक बातों को देखने में भी बहुत सा समय गंवा देते हैं। कभी मनोरंजन के लिए ताश या शतरंज खेलने बैठते हैं तो फिर यह सुधि नहीं रहती कि उसमें

आखिर कितना समय लगाना चाहिए। कितने ही आदमी तो यह कहते पाये जाते हैं कि साहब! समय नहीं कट रहा है, इसे किसी तरह काटना है। (भला ऐसे आदमियों को जीवित रहने का क्या अधिकार है?)

डायरी और आत्म-निरीक्षण—हमारे जीवन का एक-एक दिन एक-एक घंटा, एक-एक मिनट बहुमूल्य है। हमें अपना कुछ भी समय ऐसा न बिताना चाहिए जिसे नष्ट हुआ या खराब गया कहा जा सके। इसके लिए हमें अपने ऊपर कड़ी पहरेदारी करनी चाहिए। इसका एक उपाय यह है कि डायरी या रोजनामचा रखें, और उसमें अपने समय का ठीक-ठीक हिसाब दर्ज करते जायँ प्रातःकाल उठने से लेकर रात को सोते समय तक कौन-कौनसा कार्य कितनी देर किया है—शौच, स्नान, भोजन, विश्राम, मनोरंजन, पुस्तकावलोकन, आजीविका उपार्जन आदि। इसके साथ ही यह विचार भी होता रहे कि कहाँ-कहाँ हमने समय की फिजूलखर्ची की है, जिससे आगे इस विषय में अधिक सावधान रह सकें। कुछ दिन इस प्रकार लगातार अभ्यास करने से आगे के लिए समय में मितव्ययिता रखने का अभ्यास हो जायगा।

इसके अतिरिक्त डायरी लिखने से एक लाभ और है। इसके द्वारा हमें अपने पिछले कार्यों और विचारों का पता लगाता है, अपनी त्रुटियों और आकांक्षाओं का ज्ञान होता है। उससे हम अपने इस समय के जीवन में सुधार करने की बातें मालूम होती हैं। आत्म-निरीक्षण के ऐसे प्रसंगों से हमारा अनुभव बढ़ता है और आगे की जीवन-यात्रा के लिए अधिक तैयार हो सकते हैं। श्री 'सूर्य' ने लिखा है—'जीवन रूपी दर्पण में यदि भूत काल के कार्यों को देखा जाय तो उससे वर्तमान सुधर जाता है और यदि वर्तमान काल देख लिया जाय तो उससे भविष्य-सुधर जायगा। इसलिए अपने जीवन के प्रत्येक पहलू को सामने दिखते रहने के लिये दैनिकी (डायरी) को साधारण रूप से उपयोग करना अत्यन्त आवश्यक है।'

प्रत्येक कार्य में लक्ष्य का ध्यान रहे—आत्म-निर्माण के अभिलाषियों को अपना प्रत्येक काम करते समय अपने लक्ष्य का बराबर ध्यान रखना चाहिए। वे भोजन। करें तो स्वाद के लिए नहीं वरन् इसलिए कि वह शरीर-यात्रा के लिए आवश्यक है; और हमारी कार्य करने की शक्ति को बढ़ाता है, वे किसी से बातचीत करें, तो ऐसी ही करें जिससे उनका तथा दूसरों का हित हो, वे पुस्तकें या अखबार ऐसे ही पढ़ें जिनसे उन्हें कुछ वास्तविक ज्ञान या प्रेरणा मिले।

विशेष वक्तव्य—हमें समय-समय पर हम अपने विकास के लिए कुछ नियम बनाते रहना चाहिए, कुछ संकल्प या व्रत करने चाहिए और कुछ कुछ समय गुजरने पर यह भी जांच करनी चाहिए कि हमने उस दिशा में कहाँ तक अमल किया है, हमारे आचरण में कहाँ तक दोष रहा है और उसे किस प्रकार भविष्य में सुधारा जा सकता है। हम कुछ बातों में असफल रहे हों तो भी कोई हर्ज नहीं है, हमें उससे शिक्षा लेकर अपने भावी व्यवहार को अधिक अच्छा बनाने के लिए कमर कसनी चाहिए। कोई विशाल भवन एकदम नहीं बन जाता, आत्म-निर्माण भी धैर्य और निरन्तर प्रयत्न चाहता है। एक-एक कदम का, एक एक मंजिल का अपना महत्व है।

सत्रहवाँ अध्याय

बड़ा आदमी : बड़ा सेवक

जो व्यक्ति धन-संपदा में विभोर और मग्न हो, उसके महान पुरुष होने की मैं कल्पना नहीं कर सकता। जैसे ही मैं किसी आदमी को धनी पाता हूँ, वैसे ही मुझ पर उसकी कला और बुद्धिमता की बातों का प्रभाव काफूर हो जाता है। मुझे जान पड़ता है कि इस शख्स ने मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को, जो अमीरों द्वारा गरीबों के दोहन पर अवलम्बित हैं, स्वीकार कर लिया है।

—प्रेमचन्द

धन और अधिकार से महान बनने वालों की कद्र करना समाज के कष्टों को बढ़ा लेना तथा सच्चे सेवकों को नष्ट कर देना है। किसी आदमी की कद्र करने का अर्थ ही यह है कि वह समाज की ऐसी सेवा कर रहा है जिसका बदला हम भौतिक दृष्टि से नहीं चुका पा रहे हैं। जिस मनुष्य की जितनी निस्स्वार्थ जन-सेवा हो, उसी के अनुरूप उसे महान मानना चाहिए।

—स्वामी सत्यभक्त

मनुष्य का प्रधान गुण : मानवता—'समाज में बड़ा आदमी कौन ?' इस प्रश्न पर विचार करने के लिए पहले सोचना चाहिए कि वास्तव में आदमी किसे कहना ठीक है। क्या केवल मनुष्य का शरीर धारण करने से ही कोई व्यक्ति मनुष्य कहा जाने का अधिकारी हो जाता है ? भारतीय नीतिकार ने कहा है—'आहार, निद्रा, भय और

मैथुन—ये तो पशुओं और आदमियों में एक से ही पाये जाते हैं। मनुष्यों में एक धर्म ही विशेष होता है; धर्म के बिना मनुष्य पशु के समान हैं। धर्म से अभिप्राय यहाँ किसी मत, मजहब या पन्थ से नहीं है। इसका अर्थ है मानवता या मानव धर्म। मानव धर्म के विषय में विविध देशों के विचारकों और नीतिज्ञों ने समय-समय पर लिखा है। मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षण—धैर्य्य, क्षमा, दम, अस्तेय शौच और इन्द्रिय-निग्रह आदि—बताये हैं। गांधीजी ने जबकि वे यरवदा जेल में में थे, ग्यारह व्रतों की व्याख्या की थी, वे सर्वोदय दृष्टि से धर्म के तत्व कहे जा सकते हैं। वे ये हैं —(१) सत्य, (२) अहिंसा, (३) ब्रह्मचर्य, (४) अस्वाद, (५) अस्तेय, (६) अपरिग्रह, (७) अभय, (८) अस्पृश्यता-निवारण, (९) शरीर-श्रम (१०) सर्वधर्म समभाव और (११) स्वदेशी। जिस सीमा तक मनुष्य में ये गुण हों, उसी सीमा तक वह वास्तव में मनुष्य है। ऐसा व्यक्ति मनुष्य मात्र से और यथा-सम्भव अन्य प्राणियों से भी आत्मीयता का अनुभव करेगा; आवश्यकता अनुसार सब की सेवा और सहायता करेगा।

वर्तमान अवस्था में मानवता की कमी—स्पष्ट है कि वर्तमान समाज में इन गुणों की बहुत कमी है। हम शिक्षक, लेखक, कवि, कलाकार, दुकानदार पंडित, पुजारी, व्यवसायी, राजकर्मचारी, राजनीतिज्ञ आदि चाहे जो कुछ कहे और माने जाते हों, हम अपने व्यवहार में मानवता का परिचय बहुत कम देते हैं। इसी दृष्टि से एक कवि कहता है—

मर्दों से गो यह भरी सर जमीं है।
वले देखने को इनसान नहीं है॥

इसी प्रकार श्री रमेश 'मुक्त' ने कहा है—

मुझको इनसान कहाने का अधिकार नहीं।
इनसान कहाने का अधिकार न तुम को है॥

माना मैंने तुमने मानव के जन्म लिया,
औ' मानव के घर में ही हम मर जायंगे।
लेकिन भूले क्यों मुझको तुमसे प्यार नहीं,
मानव रूपी मानव से प्यार न तुमको है॥

इस कविता में आगे श्री 'मुक्त' जी कहते हैं—

उस दिन मानव कहलाने का गौरव होगा,
जब पीड़ित की सेवाओं में जुट जायँगे।
दो सीढ़ी नीचे आएँगे ऊपर वाले,
नीचे वाले दो सीढ़ी ऊपर आएँगे॥

बड़ा आदमी कौन? ऐसे धनी लोग बड़े आदमी नहीं—अब हम यह विचार करें कि समाज में बड़ा आदमी किसे कहना होगा। हमारे सामने एक आदमी घर के खूब सम्पन्न हैं। खाने-खर्चने की कुछ कमी नहीं। सर्दी के मौसम की तो बात ही क्या, गर्मी में ये सात बजे बिस्तर से उठते हैं। चाय-बीड़ी का शौक करके आराम से टट्टी जाते हैं। फिर, नौकर की सहायता से दंत-मंजन और स्नान होता है। यदि नौकर न हो तो ये हाथ-मुँह धोने से ही संतोष कर लेंगे। इस कार्य से छुट्टी पाने पर कपड़ा पहनने का कार्य-क्रम बनता है। इनके पास दर्जनों जोड़े कपड़े हैं। पाँच-सात तो धोबी के यहाँ पड़े रहते हैं, कुछ घर में खूटियों पर टंगे होते हैं और शेष ट्रंक और आलमारियों में भरे रहते हैं। बाहर जाते समय तो इन्हें सोचना पड़ता है कि कल जिस प्रकार के कपड़े पहने थे, आज उससे भिन्न प्रकार के होने चाहिए। उसमें कोई सलवट आदि न हो, कलफ या स्त्री अच्छी तरह हुई हो—यह बात घर के पहनावे में भी देखी जाती है। इसकी बहुत-कुछ जिम्मेदारी कपड़ा पहनाने वाले नौकर पर है, यों कभी-कभी ये उसके निर्णय को बदल भी देते हैं, जिससे नौकर

को यह ज्ञान होता रहे कि मालिक सर्वथा हमारे ही अधीन नहीं है।

अब इनके भोजन की बात लें। चाय के साथ ये जो कुछ लेते हैं, वह नाश्ता नहीं गिना जाता। वह तो शौच जाने का नुस्खा होता है। नाश्ता तो बाद में अलग होता है, उसमें कुछ मिठाई और कुछ नमकीन होता है। नाश्ता करने में स्नान का कोई बंधन नहीं है। जी में आया तो स्नान करने से पहले ही नाश्ता कर लिया जाता है। भोजन करीब ग्यारह बजे होता है। उसमें साग-भाजी, आचार-मुरब्बे आदि मिला कर छोटी-बड़ी एक दर्जन प्लेट तो होनी ही चाहिए। भोजन में क्या-क्या पदार्थ बनाये जायँ, यह सोचने का काम रसोइये का है। उसे तरह तरह के खाने के पदार्थ तैयार करके इनके सामने रखने चाहिए—खट्टे, मीठे, चरपरे, नमकीन, चटपटे, मसालेदार। उन सब में से जो जितना इन्हें पसन्द आयेगा, खा लिया जायगा, शेष छोड़ दिया जायगा। जूठन छोड़ने का तो रिवाज ही है। अस्तु, तीसरे पहर कुछ जल-पान, शाम को भोजन होगा। चाय-बीड़ी आदि तो समय-समय पर चलती ही रहती हैं, इसकी कोई सीमा मर्यादा नहीं; कभी अपने लिए नहीं तो यार-दोस्तों के वास्ते ही हो जाती है। इन्हें प्रायः सब लोग बड़ा आदमी कहते हैं। क्या ये बड़े आदमी हैं? सम्भव है ये खुद अपने आप को बड़ा आदमी मानते हों, पर हमारा हृदय इन्हें बड़ा मानने से इन्कार करता है।

क्या इन शिक्षितों को बड़ा आदमी कहा जाये?; नहीं— एक महाशय हैं। ये विश्वविद्यालय की उच्चतम परीक्षा उत्तीर्ण हैं, और कई अन्य संस्थाओं की भी साहित्य-पंचानन और विज्ञान-रत्न आदि उपाधियों से विभूषित हैं। स्मरण शक्ति गजब की है। कई बड़ी-बड़ी प्रतियोगिताओं में प्रथम स्थान और उच्च सम्मान प्राप्त किया है। विविध विद्वानों के बड़े-बड़े वाक्य ये सहज ही उद्धृत कर सकते हैं। जब कि भारत में साक्षर व्यक्ति सौ में से पन्द्रह हैं तो

इनकी टक्कर का आदमी औसतन हजारों में एक होगा। इन्हें भी अपनी विद्वता पर गर्व है। ये कह देते हैं कि मेरी पढ़ाई में इतना धन खर्च हुआ है तो क्या मैं केवल दो सौ ढाई सौ रुपये महीने पर काम करूँ? मेरी कम से कम कीमत पाँच सौ रुपया माहवार तो होनी चाहिए जिसके साथ एक अच्छा आरामदेह निवास-स्थान, नौकर और यातायात की निःशुल्क व्यवस्था भी हो। यह स्पष्ट ही है कि गाँव में यह प्राप्त नहीं हो सकती। पर गाँव तो मेरे योग्य हैं ही नहीं, क्या मैं इतना विद्वान होकर गाँवों के गवारों में अपना जीवन नष्ट करूँगा!'

क्या आप इन्हें 'बड़ा आदमी' कहेंगे? ऐसे बड़े आदमी से किसी का क्या भला होना है? ये तो समाज के लिए, और अच्छी नौकरी न मिलने की दशा में—जो बड़े सौभाग्य और तिकड़म से ही मिल पाती है—अपने परिवार और स्वयं अपने लिए भी, भार होते हैं। ये बात-बात में नौकर का आसरा ताका करते हैं। थोड़ी दूर हैन्ड-बैग ले चलना भी इनकी शान के खिलाफ है। ऐसे आदमी को सर्व-साधारण द्वारा भले ही कुछ बड़ा आदमी माना जाय; हमारी दृष्टि से इन्हें बड़प्पन का मान दिया जाना सर्वथा अनुचित है।

क्या दान-पुण्य आदि महत्ता का माप है? नहीं—अनेक आदमी देखते हैं कि उनकी बस्ती में अमुक सेठ बहुत दान-पुण्य करता रहता है, ब्राह्मण-भोजन कराता है या भिखारियों को सदाव्रत देता है। वे कहते हैं कि 'वह बड़ा आदमी है। अफसोस! हमारे पास ऐसा करने के साधन नहीं। हमारी माली हैसियत ऐसी नहीं कि इस प्रकार का व्यय-भार उठा सकें। हमें अपनी सब शक्ति और समय अपने निर्वाह-कार्य में ही लगा देनी होती है; हमें इतनी फुर्सत नहीं कि दो चार घण्टे पूजा-पाठ कर सकें या भगवान के नाम की माला जपा करें। तीर्थ-यात्रा भी तो पैसे का खेल है और यदि पैदल यात्रा करें तो इतने दिन खाने को चाहिए। यहाँ तो रोज कमाना

और रोज खाना है, ऐसी दशा में कुछ दिन यात्रा में बिना कुछ कमाई किये बिताना कैसे हो सकता है!' इस प्रकार के विचारों के कारण बहुत से आदमी बड़ी हीनता की भावना अनुभव करते हैं। यह धारणा भ्रममूलक है। दान-पुण्य पूजा-पाठ और तीर्थ-यात्रा आदि मनुष्य के बड़प्पन के लिए अनिवार्य नहीं, खासकर जब आदमी इन कार्यों के लिए धन-संग्रह करने के वास्ते पर-पीड़न, शोषण और भ्रष्टाचार करता है। साधारणतया इन बातों के बिना सम्पत्ति जमा नहीं होती। स्पष्ट है कि सम्पत्ति, शिक्षा और दान-पुण्य आदि को बड़प्पन का माप नहीं माना जा सकता।

फिर, बड़ा आदमी कौन? लोकसेवा करने वाला—बड़ा आदमी वह है जो अपने समय और शक्ति का उपयोग अपने भोग-विलास, दम्भ, अहंकार, मान-प्रतिष्ठा की वृद्धि आदि में न कर, उस समाज के प्रति अपने कर्तव्यों के पालन में लगाता है जिसमें वह रहता है, और जिससे उसने अपने विकास और पालन-पोषण में बहुत सहायता पायी है। समाज के उपकारों को भूल कर उसकी सेवा द्वारा अपना ऋण न चुकाने वाला व्यक्ति ऐसा ही है जैसे कोई आदमी ऋण-दाता से उधार लिये हुए ऋण के बल पर अपनी शान बघारता है। इस प्रकार लोक-सेवा मनुष्य मात्र का अनिवार्य कर्तव्य है। जो व्यक्ति यह नहीं करता वह बड़ा आदमी तो क्या, वास्तव में आदमी कहलाने का भी अधिकारी नहीं। जो आदमी दूसरों को अपने समान समझता है, उनके दुःख-सुख की चिन्ता करता है, दूसरों का कष्ट निवारण करने का भरसक प्रयत्न करता है, अपने आप को जाति वंश, पद, उपाधियाँ धन आदि के आधार पर ऊँचा नहीं मानता, जिसके हृदय में सब के लिए प्रेम और स्नेह होता है, जो दूसरों से सेवा लेता कम है और उन्हें सेवा देता अधिक है—वही वास्तव में बड़ा आदमी है।

विशेष वक्तव्य—इस प्रकार के वास्तव में बड़े आदमी कहे जाने योग्य व्यक्तियों का समाज में समय-समय पर शुभागमन होता रहा है। कौन नहीं जानता कि अवतार या महापुरुष माने जाने वाले कृष्ण ने अश्वमेध-यज्ञ के समय घोड़े को नहलाने, अतिथियों के पाँव धोने और उनकी जूठी पत्तल उठाने का काम स्वेच्छा और हर्ष पूर्वक किया था। आधुनिक काल में गाँधी जी इतने व्यस्त होते हुए भी रोगियों और कोढ़ियों की सेवा करने के लिए समय निकाल लेते थे। ऐसे बड़े आदमी जिस समाज में यथेष्ट संख्या में हो, वह धन्य है। आवश्यकता है कि हमें ये अधिक से अधिक मिलें, और हम उनसे क्रियात्मक शिक्षा लें।

अठारहवाँ अध्याय

हमारे तीर्थ : जीवन सुधार के केन्द्र

पुरानी व्यवस्था बदलती है और नयी उसकी जगह ले लेती है। ईश्वर की इच्छा अनेक प्रकार से पूरी होती रहती है, जिससे ऐसा न हो कि कोई अच्छी रीति कालान्तर में जनता के लिए हानिकारक हो जाय।

—टेनिसन

तीर्थों का निर्माण—स्थान-स्थान और समय-समय पर नये-नये तीर्थों का निर्माण होता रहता है। यद्यपि कुछ तीर्थों का महत्व चिर-काल तक बना रहता है, जनता की श्रद्धा किसी में क्रमशः कम और किसी में उत्तरोत्तर अधिक होती रहना साधारण बात है।

किसी स्थान के तीर्थ बनने का एक प्रारम्भिक कारण बहुधा उसकी प्राकृतिक स्थिति भी होती है। नदी, पहाड़, वन, उपवन आदि के दृश्यों से किसी स्थान की शोभा सहज ही बढ़ जाती है। ऐसे स्थान में जब कोई पुण्यात्मा पुरुष कुछ समय तक लगातार रह जाता है, और अपने सेवा और लोकोपकार के कृत्यों से जनता को कृतार्थ कर देता है तो वह स्थान दूर-दूर के आदमियों के लिए तीर्थ बन जाता है। यात्री वहां दर्शन करने आते हैं और वहां की भूमि को पवित्र मानते हुए उनकी वन्दना करते हैं, वहां की धूल अपने मस्तक पर लगाते हैं।

इस प्रकार जितने भी तीर्थ हैं, उन्हें तीर्थ का पद देने का श्रेय किसी न किसी सेवाभावी और परोपकारी महापुरुष को है। भारत की बात लें। अयोध्या को राम ने तीर्थ बनाया, द्वारिका या मथुरा वृन्दावन

को कृष्ण ने प्रतिष्ठा दी, वृन्दावन को पीछे गौरांग महाप्रभु ने गौरवान्वित किया, हस्तिनापुर को युधिष्ठिर आदि पाण्डवों के निवास से ख्याति मिली, गया को गौतमबुद्ध जैसे तपस्वी के निवास-स्थान होने का सौभाग्य प्राप्त है। हमारे जमाने में महात्मा गांधी एक तीर्थ-निर्माता हो गये हैं। खासकर साबरमती और सेवाग्राम को जो तीर्थ पद मिला है, वह आपकी ही बदौलत है। वर्धा के निकट पवनार गांव सन्त विनोबा के परमधाम आश्रम के कारण विख्यात है।

महापुरुषों की महिमा—सज्जन, संत और सेवाभावी व्यक्ति जहां कहीं निवास करते हैं, वही स्थान पवित्र और दर्शनीय माना जाने लगता है। मानव जाति का यह दुर्भाग्य रहा है कि समय-समय पर इसने महापुरुषों की बात ठीक नहीं समझी, उन्हें कष्ट दिया तथा उन्हें चोर और डाकुओं के लिए बनाये हुए जेलों या कैदखानों में बन्द किया। परन्तु महापुरुषों ने अपने उच्च भावों के कारण उन जेलों को भी अपना आश्रम ही माना। उनके उदाहरण से दूसरे सज्जनों को प्रेरणा मिलती है। वे भी उत्साह-पूर्वक कष्टों का स्वागत करते हैं, और कर्तव्य-पालन से नहीं झिझकते। ऐसे ही भाव से कवि कहता है—

बदमाश जेल मानें, मानूं मगर खुदा-रा।
तीरथ अगर मिले यह, हिन्दोस्तान की खातिर॥

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में जवानों की तो बात ही क्या, अनेक बूढ़ों और लड़कों ने तथा सुकुमार समझी जाने वाली महिलाओं ने जानबूझ कर ऐसे सत्कार्य किये तो तत्कालीन शासकों की निगाह में अपराध माने जाते थे, और जिनके लिए कैद की सजा दी जानी निश्चित थी। उस समय जेलों को जेल न कह कर कृष्ण मन्दिर या तीर्थ-यात्रा का स्थान कहा जाता था और ये तीर्थ जगह-जगह थे।

वर्तमान तीर्थों के दोष दूर करने की आवश्यकता—हमारे देखते-देखते जहाँ कुछ नये तीर्थ बन रहें हैं, कितने ही पुराने तीर्थों का महत्व घटता जा रहा है। बात यह है कि कोई आदमी कितना ही हृष्ट-पुष्ट क्यों न हो, उसके शरीर में नया रक्त बराबर बनता रहना चाहिए, अन्यथा उसका ह्रास होना स्वाभाविक है। कोई घर बहुत समय तक पूर्वजों की कमाई के भरोसे अपनी प्रतिष्ठा नहीं बनाये रख सकता। इसी तरह तीर्थों का तीर्थ-पद तभी तक सुरक्षित समझा जाना चाहिए जब तक वहां साधु-स्वाभाव सन्त महात्माओं की परम्परा बनी रहे, साधारण जनता का आपसी व्यवहार प्रेम और सेवा-भाव का रहे। आज दिन हमारे अनेक तीर्थों में लोक-जीवन बहुत चिन्तनीय है। यदि हम उनका तीर्थ-पद बनाये रखना चाहते हैं तो हमें इस स्थिति में आमूल सुधार करना चाहिए। हमारे तीर्थ ऐसे होने चाहिए कि यात्री को उसमें प्रवेश करते ही यह अनुभव होने लगे कि मैं अब कुछ अच्छे वातावरण में आ गया हूँ। तीर्थवासियों के आचार-व्यवहार से यात्रियों को अच्छे विचारों और कार्यों की ऐसी प्रेरणा मिलनी चाहिए कि घर लौटने पर वह अपने साथ कुछ अच्छे संस्कार ले जाय और अपने मिलने-जुलने वालों पर अच्छा प्रभाव डाल सके।

तीर्थों सम्बन्धी आदर्श—इस प्रकार हमें तीर्थों के सम्बन्ध में यह आदर्श रखना चाहिए—

१—तीर्थ के सब निवासियों का, और खासकर उन लोगों का व्यहवहार प्रेम और सेवामय होना चाहिए, जिनसे यात्रियों को काम पड़ता है।

२—तीर्थों में खाने-पीने की चीजें शुद्ध, बेमिलावट और उचित मूल्य पर मिलनी चाहिए। यात्रियों को ठहरने के लिए स्थान काफी और स्वास्थप्रद हों। तीर्थों में मादक पदार्थों के सेवन का निषेध होना चाहिए। शराब, गांजा, भंग, चरस तमाखू (बीड़ी, सिगरेट) चाय,

कहवा आदि से परहेज होना चाहिए। यात्री इसकी तैयारी करके ही तीर्थ में जायं।

३—तीर्थों में चंचलता, उत्तेजना कामुकता आदि भावनाओं का प्रदर्शन करने वाले सिनेमा और नाटक तथा जुआ आदि फैलानेवाले कार्निवाल आदि वर्जित होने चाहिए। तीर्थों में साहित्य ऐसा मिले जिससे पाठकों की ज्ञान-वृद्धि के साथ नैतिक भावनाओं का भी विकास हो।

४—यात्रियों का पथ-प्रदर्शन करने वाले तथा उन्हें आवश्यक सहायता देने वाले सज्जन तथा संस्थाएँ यथेष्ट होनी चाहिए। पंडे पुजारी आदि का चरित्र और व्यवहार बहुत अच्छा होना चाहिए।

तीर्थ जीवन-सुधार के केन्द्र बनें—हम बहुधा गर्व किया करते हैं कि हमारे अमुक तीर्थ में अमुक पर्व के अवसर पर इतने आदमी एकत्र हुए जितने संसार में कहीं एकत्र नहीं होते। गत वर्ष कुंभ के अवसर पर प्रयाग में ही पचास साठ लाख यात्री इकट्ठे हुए थे। कौन कह सकता है कि इनमें से कुछ खासी संख्या के आदमियों ने यहाँ अपना जीवन सुधारने की सामग्री प्राप्त की! दूसरी ओर, यह तो स्पष्ट ही है कि अनेक पुरुष-स्त्रियों को ऐसी, असुविधा कष्ट तथा अर्थ-हानि सहनी पड़ीं, जो उन्हें बहुत समय तक याद रखनी पड़ेगी। हम उन लोगों की बात तो छोड़ ही देते हैं जिन्हें अपने प्रियजनों का वियोग सहना पड़ा। क्या ही अच्छा हो, हमारे तीर्थस्थानों का भी विकेन्द्रीकरण हो जाय, वे इन-गिनी जगहों में न हो कर जगह-जगह पर हों, जहाँ आदमी सहज ही आ जा सकें, और यथेष्ट समय तक रह कर अपना जीवन सुधार सकें।

उन्नीसवां अध्याय

त्यौहार, आत्म-निरीक्षण के दिन

यह मानना पड़ेगा कि पर्वों का आरम्भ और विकास कुछ कहने, कुछ जताने और जानने की वृत्ति से ही किया गया होगा। आज उनका काम केवल जताना भर गया है, कुछ जानने और आगे बढने की वृत्ति इनमें नहीं।

—'पांच जन्य'

प्रतिज्ञा कीजिये कि हम अब से प्रदर्शन और कोलाहल द्वारा पर्व नहीं मनायेंगे—प्रकाश इन बाहरी आंखों को नहीं, हिये की आखों को चाहिए। हमारी खुशियाँ किसी की आंखों की नींद नहीं छीनेंगी और हमारी स्वच्छन्दता किसी की स्वतंत्रता की रेखा को छोटा नहीं करेगी। सर्वे भवन्तु सुखिनः।

—'योगी'

त्यौहार और मनोरंजन—मनुष्य मनोरंजन-प्रेमी है। अकसर आदमी भारी शरीर-श्रम करते हुए भी अपने मन-बहलाव की बातें किया करते हैं। औरतों के चक्की पीसते हुए गीत गाने की बात तो सब जानते ही हैं। शरीर-स्वास्थ्य के लिए मनोरंजन की उपयोगिता में कोई शंका ही नहीं। इस वास्ते भी आदमी को जब अवकाश मिलता है और सुविधा होती है, वह मनोरंजन करना चाहता है। प्रायः हरेक समाज में हफ्ते का कोई एक दिन या महीने की खास-खास तिथियां ऐसी निश्चित हैं, जिनमें आदमी को रोजमर्रा के

काम-धंधे से छुट्टी मिले। इसके अतिरिक्त तरह-तरह के त्यौहार-पर्व, उत्सव आदि भी निश्चित किये हुए है, तथा कुछ नये नये भी निश्चित होते जाते हैं, जब आदमी अपने साधारण व्यवसायिक कामों से कुछ मुक्त हों, सामूहिक आमोद प्रमोद करें और आत्मचिंतन तथा अपने उत्थान की बात सोचें।

हमारे कुछ त्यौहार स्थानीय होते हैं, कुछ प्रादेशिक, और कुछ तो देशव्यापी होते हैं। हिंदुओं के त्यौहारों में खासकर दीवाली, दशहरा होली और रक्षाबंधन हर जगह मनाये जाते है। राष्ट्रीय जागृति के साथ विविध महापुरुषों की जयन्तियां भी अधिकाधिक मनायी जाने लगी हैं।

त्यौहारों का कार्य क्रम—साधारणतया त्यौहार के दिन घरों की सफाई होती है, आदमी अच्छा साफ या बढिया कपड़े पहनते हैं, अच्छा पकवान या मिठाइयां और फल अदि खाते हैं, मकानों में रोशनी होती है, कुछ पूजा-पाठ होता है, खेलकूद या मनोरंजन के कार्यक्रम रखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त हर एक त्यौहार के दिन कुछ कार्यक्रम और भी होते हैं। जलपान या मनोरंजन के कार्यक्रम में हम अपने रिस्तेदारों या मित्रों का साथ चाहते हैं। हम उनके घर जाते हैं, और उन्हें अपने यहां बुलाते हैं।

इस प्रकार हमारे त्यौहारों का आनन्द हमारे परिवारों में सीमित न रह कर कुछ बड़े क्षेत्रों तक पहुँचता है। इस क्षेत्र का विस्तार हमारे सार्वजनिक संबंधों या आर्थिक स्थिति पर निर्भर होता है। किसी परिवार में बाहर के दो चार व्यक्ति ही सम्मिलित होते हैं, तो किसी में सैकड़ों आदमी भी शामिल हो जाते हैं। तथापि बाहर के व्यक्ति प्रायः वही होते है, जिनसे हमारा कुछ विशेष व्यावहारिक संबंध होता है

हमारी परीक्षा ; सहृदयता की आवश्यकता—त्यौहार के दिन हम लोग गरीबों को तथा ऐसे लोगों को जिन्हें हम अपने से नीचे दर्जे

का मानते हैं कुछ भोजन-वस्त्र आदि भी दे देते हैं। पर यह कार्य करते समय हम उन लोगों को अपनी बराबरी का नहीं मानते और उन्हें अपने त्यौहार के आनन्द में शामिल होने का अधिकारी नहीं समझते। हममें से कोई विरला ही ऐसा होगा जो त्यौहार के दिन यह सोचता हो कि हमारी बस्ती (गाँव या नगर) में कौन सा पुरुष, स्त्री या बालक ऐसा है जिसकी सामाजिक या आर्थिक स्थिति सबसे गिरी हुई है, और जिसे हमारे प्रेम और सेवा की सबसे अधिक आवश्यकता है। स्पष्ट है कि हममें मानवता या सहृदयता की बहुत कमी है। त्यौहार का दिन मानो हमारी परीक्षा का दिन है। उस दिन इस बात की जांच होती है कि हमारी खुशी की लहर कहां तक जाती है। यह बड़े वेग से चलती हुई मालूम होती है, पर जैसे रेगिस्तान का नाला थोड़ी ही दूर जाकर सूख जाता है, हमारे प्रेम का प्रवाह भी कुछ मित्रों और रिश्तेदारों तक ही पहुँच कर समाप्त हो जाता है। हम दिवाला निकाल बैठते हैं और मौन भाषा में सूचित करते हैं कि बस, अब हमारे पास देने को कुछ नहीं रहा। प्रत्येक बस्ती में कितने ही बालक बालिकाएँ ऐसी होती हैं, जिन्हें माता पिता का सुख प्राप्त नहीं होता, वे अपने आप को अनाथ और आश्रयहीन अनुभव करते हैं अफसोस ! हम त्यौहार के दिन भी इन्हें ऐसा सोचने का मौका नहीं देते कि इस बस्ती में किसी के मन में हमारे लिए भी वात्सल्य है—माता-पिता का हृदय है। हमारी बस्ती में कितनी ही विधवा बहिनें ऐसी होंगी जिनका कोई भाई आदि उनकी सुध लेने वाला नहीं है। क्या हम अपने त्यौहार के दिन किसी ऐसी बहन को एक सहृदय भाई का प्रेम नहीं दे सकते ?

और लीजिए। हमारे यहां कितने ही दीन-हीन क्षीणकाय और और निर्बल बूढ़े-बूढ़ियां कमर झुकाए अपनी जिन्दगी का बोझा ढोते मिलते हैं। पर हमें उनकी ओर निगाह उठा कर देखने की फ़ुरसत

ही कहां है ? हम अपनी खुशी में मस्त हैं। त्यौहार का कार्यक्रम हमारे सामने है। उसमें ऐसी अच्छी बातों की गुंजाइश नहीं।

हम आत्म-निरीक्षण करें; दीवाली का दिन—ऐसी बातें खासकर दीवाली के अवसर पर बहुत अखरती है, जिसे हम प्रकाश का त्यौहार कहते हैं। हम अपने व्यवहार पर विचार करें। हम बाहर प्रकाश फैलाने का विचार करते हैं, पर हम स्वयं इतने अंधकार में रहते हैं कि हमें अपने नागरिक भाई-बहनों का हाल मालूम नहीं होता, अथवा हम जानबूझ कर अपने व्यवहार में उस विषय के अज्ञानका ही परिचय देते हैं। दीपों का स्नेह (तेल) खर्च करने मात्र से हमारा मानवीय कर्तव्य पूरा नहीं हो सकता, हमें अपने हृदय में स्नेह-भाव रखने और अपना अज्ञान-अंधकार दूर करने का प्रमाण देना चाहिए।

दीवाली के दिन हम अपने बालकों को कुछ पैसे दे देते हैं। और वे उन्हें पटाखों या फुलझड़ी आदि में खर्च कर देते हैं। हम भी कह देते हैं, त्यौहार का दिन है, क्या हर्ज है, बालकों ने दो पैसे खराब कर दिये। हमें यह याद रखना चाहिए कि 'इन दो पैसों से एक आदमी की क्षुधा शांत हो सकती है एक भूखी माँ के भूखे बच्चे के प्राण बचाये जा सकते हैं, और एक वस्त्रहीन की लज्जा निवारण में सहायता हो सकती है। क्या दीवाली के दिन हम यह बात भूल जायँ ?

आज के दिन हम अपने जीवन का लेखा-जोखा करें। अब तक के जीवन में, खासकर पिछली दीवाली से अब तक हमने अपना समय कहां-कहां किस-किस कार्य में बिताया। कौनसा कार्य करने योग्य था और कौनसा करने योग्य न था। रुपया बटोरने में कितनी अनीति, अनाचार या दुर्व्यवहार किया। अब अगले वर्ष का स्थानीय

संस्थाओं का, राज्य का, तथा केन्द्र का आर्थिक बजट बनाने के समय हम अपने जीवन का नैतिक बजट बनावें। इसी अवसर पर विविध आर्थिक संगठनों और समितियों के सम्मेलन भी किये जा सकते हैं।

विजयदशमी और होली—विजय दशमी के दिन राजनैतिक कार्यकर्ता यह सोचें कि उनके कार्य व्यवहार में क्या-क्या त्रुटियाँ हैं, निर्दलीय अर्थात् पक्षातीत राजनीति अर्थात लोकनीति की ओर कहां तक बढ़े हैं और किस प्रकार इस दिशा में और आगे बढ़ सकते हैं। इतिहास-परिषदों के सम्मेलन भी इसी अवसर पर किये जासकते हैं, उनमें यह विचार हो कि वर्तमान इतिहास-ग्रन्थों में संकीर्ण राष्ट्रीयता और जातीयता या प्रादेशिकभावना को प्रोत्साहन देकर जो अनर्थ किया गया है, वह आगे न हो। भावी इतिहास-ग्रन्थ मानवता की भावना से ओतप्रोत हों।

होली के दिन सामजिक भेद-भावों को दूर करने, अस्पृश्यता, वर्ण-भेद और जाति-भेद को हटाने के क्रियात्मक रूप पर विचार किया जाय। सामाजिक कुरीतियों, अन्ध-विश्वासों, कुप्रथाओं आदि को भस्म करने का संकल्प हो। इसी दिन सभी सम्प्रदायों, जातियों या वर्णों के सहमिलन, सहभोज आदि का विशेष कार्यक्रम रखा जाय।

स्वाधीनता दिवस—१५ अगस्त के दिन हम सोचें कि क्या हमारा व्यवहार स्वतन्त्र व्यक्तियों जैसा है? हमारे कर्त्तव्यपालन में, दूसरे के प्रति आचरण में, लोभ-मोह के त्याग में कुछ विशेषता हुई? हमारे विवाह-शादी, हमारी होली-दिवाली, हमारे सिनेमा, हमारे खेल-तमाशे और मनोरंजन का रूप कुछ बदला? समाज में भ्रष्टाचार, रिश्वत खोरी, लड़ाई-झगड़े, मुकद्दमेबाजी, धोखेबाजी, छल-कपट कुछ कम हुआ?

क्या हमारे साहित्यकार, पत्रकार, प्रकाशक अपने तयीं कुछ अधिक ईमानदार हुए? क्या हमारे अफसर या अधिकारी वर्ग में हुकूमत की

भावना कम होकर सेवा का विचार बढा ? क्या हमारा विद्यार्थी वर्ग उपाधियों की लालसा कम कर के वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति का इच्छुक हुआ ? क्या दुकानदार और व्यापारी ने ग्राहकों को ठगना और लूटना छोड़ दिया ? इन प्रश्नों का उत्तर समाधानकारक न हो तो राजनैतिक दृष्टि से स्वाधीन होने पर भी हमारा मन अभी दासता में ही जकड़ा है। हम अपना उद्धार करें।

गांधी जयन्ती—गांधी जयन्ती के दिन (२ अक्तूबर) हम कुछ समय गांधी जी के लेखों या प्रवचनों को पढ़ें यह तो ठीक है, पर साथ में विचार करना चाहिए कि अवतारी पुरुष गांधी जी ने हिंसा और पोषण से ग्रस्त समाज का जो अहिंसक क्रान्ति का मार्ग दिखाया और ग्रामोद्योगों के प्रतीक-रूप खादी अपनाने की अपील की, यहाँ तक कि गांधी-जयन्ती को चर्खा जयन्ती का नाम देने का आग्रह किया, उस दिशा में हम कितना अग्रसर हो रहे हैं। गांधी जी दो-तीन छोटी-छोटी धोतियों, दो-तीन अंगोछों और दो चद्दरों से काम चलाते थे, हम कपड़े का कितना अनावश्यक खर्च कर रहे हैं ! क्या हम उनसे कुछ सादगी और संयम की शिक्षा लेंगे।

विनोबा जयन्ती—विनोबा जयन्ती (११ सितम्बर) के दिन विनोबा का कुछ गुणगान कर लेना काफी नहीं है। हम सोचें कि यह हमारा सौभाग्य है कि गांधी जी के बाद उनका विनोबा जैसा शिष्य हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहा है। वे भूदान-यज्ञ मूलक ग्रामोद्योग-प्रधान अहिंसक क्रान्ति के सन्देश वाहक हैं। हमने अपने-अपने क्षेत्र में भूदान, सम्पत्तिदान, श्रमदान, बुद्धिदान और जीवनदान के सम्बध में क्या तथा कहाँ तक कर्तव्य पालन किया, और आगे क्या करने वाले हैं। प्रायः समकालीन आदमियों को अपने युग के महापुरुषों के विषय में यथेष्ट विश्वास नहीं होता, क्याहम भी उनकी उपेक्षा करते रहेंगे ?

विशेष वक्तव्य—सर्वोदय भावना का तकाजा है कि हमारे त्यौहार और जयन्तियां हमारे लिए कुछ घंटों के दिल-बहलाव या मनोरंजन के दिन न होकर हमारी जीवन-यात्रा की आगे की मंजिल तय करने में उसी प्रकार सहायक हों, जैसे तीर्थ-स्थान को जाते हुए यात्री के लिए फासला बताने वाले मील के पत्थर होते हैं।

चौथा खंड

परिवार, गाँव, और संसार

हम दुनियाँ को एक सम्पूर्ण इकाई बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं। उसे सम्पूर्ण इकाई बनाने में एक बड़ी भारी कमी रह गयी हैं। विज्ञान की व्यापकता और क्रान्ति की अन्तरराष्ट्रीयता के अनुरूप मनुष्य की मनोवृति नहीं बनी है। सारी दुनियाँ एक विश्व-कुटुम्ब बनना चाहती है। उसके सामने राह साफ नहीं है। वह राह गांधी ने बतलायी और आज विनोबा उस पर चल रहे हैं।……क्रान्ति की प्रक्रिया में आज पूर्णता आ रही है। क्रान्ति की प्रक्रिया में ही मानवीय मूल्यों का समावेश गांधी विनोबा ने कराया है।

—दादा धर्माधिकारी

हम एक ऐसा समाज बनाना चाहते हैं जो जांत-पांत तथा वर्ग-भेद से मुक्त होगा। वहां किसी तरह का, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक या जातीय शोषण नहीं होगा। आज हमें यह स्वीकार करना होगा कि हमारे समाज में आर्थिक क्षेत्र में अन्याय, सामाजिक प्रतारणा, जातीय ईर्ष्या-द्वेष, सांप्रदायिक भावना, प्रान्तीयता के झगड़े और भाषाओं के प्रति विद्वेष की भावना जैसे भयंकर दोष हैं। ये सारी बातें हमारी योग्यता, हिम्मत और बुद्धि के लिए चुनौती हैं। अगर हम एक सांस्कृतिक समाज के रूप में जीना चाहते है तो सभ्य तरीकों के द्वारा शीघ्र ही हमें इन बुराइयों से मुक्ति पाना होगा।

—डा० राधाकृष्णन

बीसवाँ अध्याय

नारी की प्रतिष्ठा

स्त्री अहिंसा की अवतार है। अहिंसा का अर्थ है असीम प्रेम, और असीम प्रेम का अर्थ है असीम कष्ट-सहन की शक्ति यह शक्ति पुरुष की मां—स्त्री के सिवाय अधिक से अधिक मात्रा में और कौन दिखा सकता है।

—विनोबा

जगत में ईश्वर की कर्तृत्व शक्ति का प्रतीक नारी है, जिसका पावनतम और मधुरतम नाम माँ है।

—एनी बिसेंट

स्त्री पुरुष से औसतन कमजोर है, इसलिए पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह स्त्री जाति का संरक्षण करे; लेकिन स्त्री अहिंसा, कोमलता, सेवा और प्रेम का प्रतीक है, वह जगज्जननी का रूप है, अतः पुरुष का स्वाभाविक आदर उसके प्रति होना चाहिए।

—जवाहरलाल जैन

स्त्री पुरुष की पूरक है, उसके उत्थान की आवश्यकता—समाज के लिए स्त्री और पुरुष दोनों ही अनिवार्य हैं। विश्व की सृष्टि और विस्तार के वास्ते दोनों ही आवश्यक हैं। पुरुष यदि जनक है तो स्त्री जननी है। समाज की आधारभूत इकाई परिवार है, और परिवार की कल्पना स्त्री के अभाव में की ही नहीं जा सकती। घर वाली, गृहिणी, गृह-स्वामिनी स्त्री है, बिना स्त्री के घर सुनसान रहता है। बहिन के रूप में, पत्नी के रूप में, मां के रूप में परिवार और

समाज में स्त्री का स्थान कितने महत्व का है, यह स्पष्ट है। ऐसी दशा में पुरुष की कोई सामाजिक उन्नति या प्रगति उसी दशा में सार्थक होगी, जब स्त्री को भी उनमें यथेष्ट भाग मिले।

साहित्य में स्त्री जाति के साथ अन्याय—आश्चर्य और खेद का विषय है कि इस ओर कुल मिला कर बहुत कम ध्यान दिया गया है। कहा जाता है, आरम्भ में इतिहास-काल से पूर्व, स्त्री को बहुत महत्व प्राप्त था। उस बात को अर्सा बीत गया, उसकी तो कहानी ही बाकी है। जहाँ तक अब इतिहास उपलब्ध है, उसी की बात लें। कहीं-कहीं कुछ स्थानों में कुछ व्यक्तियों की दृष्टि में कुछ समय भले ही स्त्री की प्रधानता रही हो, या इस समय भी हो, साधारण तौर से यह कहा जा सकता है कि चिरकाल से स्त्रियों को हीन माना गया है। प्रत्येक देश का धार्मिक, राजनैतिक तथा सामाजिक साहित्य देख डालिए, उसमें अपवाद-रूप कुछ स्थलों को छोड़कर स्त्रियों के लिए निन्दात्मक वाक्य ही भरे पड़े हैं। समाज का नेतृत्व करने वाले, पथ-प्रदर्शन करने वाले अनेक महापुरुषों ने भी स्त्री जाति के साथ घोर अन्याय किया है। बात यह है कि अधिकतर साहित्यकार पुरुष ही हुए हैं, और और उन्होंने अपनी विषय-वासना सम्बन्धी कमजोरियों को स्त्री जाति के ही सिर मढ़ दिया है। ऋषि, तपस्वी, त्यागी पुरुषों ने स्त्रियों के सम्बन्ध में कुछ कहते समय संयम और मर्यादा नहीं रखी है। सम्भव था, यदि स्त्रियों के हाथ में कलम होती तो कुछ दूसरी ही तरह चित्र सामने आता। अस्तु, स्त्रियों के विषय में कुछ कहते या लिखते समय यह नीति-वाक्य हमें याद रखना चहिए—

नारी-निन्दा मत करे नारी नर की खान।
नारी से नर होत हैं ध्रुव-प्रह्लाद समान॥

स्त्रियों से दैनिक व्यवहार—भारत में—जिस भारत में मनु का यह वाक्य लोगों की जबान पर है कि जहाँ स्त्रियों की आदर-पूजा होती

है, वहाँ देवताओं का निवास होता है—स्त्री जाति की क्या दशा रही है; और इस समय तक बनी हुई है ? कन्या के जन्म पर घर में कैसी दुख-सूचक घटा छा जाती है, और लड़के के जन्म पर कैसी खुशियाँ मनायी जाती हैं ! दोनों के पालन-पोषण, शिक्षण आदि में कितना भेद-भाव होता है। हमारी कई सामाजिक रीति-रस्म ऐसी हैं कि कन्या हमारे वास्ते जन्म भर को भार बनी रहती है। उसकी विवाह-शादी में घर की चिरकाल की संचित पूँजी समाप्त हो जाती है, अनेक माता-पिता तो इस अवसर पर इतने ऋण-भार से दब जाते हैं कि सारी उम्र उन्हें उससे मुक्ति नहीं मिलती। इसकी कल्पना ही इतनी चिन्ता जनक होती है कि कई बार कोमल-हृदय कन्याएँ अपने प्राणों की आहुति देकर अपने माता-पिता की दारुण समस्या हल करने का प्रयत्न करती हैं। विधवाओं को कैसा कष्टमय जीवन बिताना पड़ा है। अनेक बार वे अपने प्राण गँवा कर ही उससे छुटकारा पा सकी हैं। अब भी स्थिति में विशेष सुधार नहीं हुआ है। पिछले वर्षों में पर्दा, बाल-विवाह, बेमेल विवाह स्त्री-शिक्षा, विधवा विवाह आदि के विषय में लोगों के विचार कुछ बदले हैं, इस दिशा में कुछ कानून भी बने हैं, तथापि अभी बहुत काम करना बाकी है।

श्रम में स्त्री-पुरुष भेद—स्त्री का विशेष कार्य यह है कि वह सन्तान का—भावी नागरिकों का—समुचित पालन पोषण करे। इस कार्य का बड़ा महत्व है। इससे स्त्रियों को आवश्यक शिक्षा दीक्षा मिलनी चाहिए और उन्हें इस की तैयारी करनी चाहिए। इसके लिए स्त्रियों को अधिकतर घर पर रह कर घरेलू काम करना होता है। बाहर रह कर आजीविका-प्राप्ति का कार्य करना पुरुषों को अधिक सुविधाजनक होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि घर के काम का महत्व कम है, अथवा आर्थिक विषयों में स्त्रियाँ सर्वथा पुरुषों के अधीन रहें। आवश्यकतानुसार स्त्रियों को सार्वजनिक

कार्य करने तथा आजीविका प्राप्ति के अवसरों से वंचित नहीं किया जाना चाहिए, वरन् इसके लिए उन्हें यथेष्ट सुविधाएँ दी जानी चाहिए।

स्त्री-पुरुष का संग-साथ है। जीवन-यात्रा में कुछ काम स्त्रियाँ करें और कुछ पुरुष करें, यह बात सिद्धान्त से बुरी नहीं, पर हमने स्त्रियों को जो काम दिये हैं, उन्हें हम हीन समझते हैं और पुरुषों के करने योग्य नहीं मानते—यह सर्वथा अनुचित है। हमारे दिमाग से यह विचार हटना बहुत जरूरी है कि चक्की-चूल्हा, झाड़ू-बुहारी लगाना ये काम स्त्रियों के ही करने के हैं, और पुरुष इन्हें करे तो उसका अपमान है। अब से कुछ वर्ष पहले तक सूत कातने को भी स्त्रियों का ही काम समझा जाता था। गाँधी जी ने अपने उदाहरण और उपदेश से लोगों की यह भ्रान्त धारणा हटादी है। अब तो अनेक प्रतिष्ठित व्यक्ति सूत कातने में हर्ष और गौरव मानने लगे हैं। वास्तव में पुरुषों को घर के सभी कामों का अभ्यास और रुचि होनी चाहिए, जिससे आवश्यकता होने पर वे उन्हें आसानी से और प्रसन्नता-पूर्वक कर सकें। तभी स्त्री-पुरुष का यथेष्ट सहयोग हो सकेगा।

स्त्रियों को पुरुषों से पारिश्रमिक कम दिया जाना भी अनुचित है। उनकी आवश्यकताओं तथा परिस्थिति का विचार करके उन्हें अधिक नहीं तो पुरुषों के समान तो मिलना ही चाहिए।

विदेशों में स्त्रियों की स्थिति—यूरोपीय देश सामाजिक विषयों में और स्त्रियों का आदर-मान करने में बहुत आगे बढ़े हुए माने जाते हैं। पर वहाँ की स्थिति से भी संतोष नहीं किया जा सकता। स्त्रियों को अपने अधिकार पाने के लिए जो घोर संघर्ष करना पड़ा है, वह विचारवान पाठकों से छिपा नहीं। उन्हें आजीविका के साधन बहुत-कुछ प्राप्त हैं, तथा सभा समाजों में, यात्रा के समय सवारी में

उन्हें प्रथम स्थान दिया जाता है। पर ऐसी बातों से मूल समस्या हल नहीं होती। पुरुषों की हार्दिक सद्भावना चाहिए। उन देशों में गत वर्षों में युद्धों की प्रधानता रही है, और क्योंकि उनमें पुरुषों का भाग अधिक होता है, इससे स्वभावतः स्त्रियों का दर्जा हीन हो गया। बहुत पुरानी बात नहीं है, हिटलर, मुसोलिनी आदि ने उन्हें सन्तान पैदा करने के यन्त्र के रूप में ही देखा—ऐसी सन्तान जो तोपों और बमों से नष्ट होने के लिए तथा दूसरों को नष्ट करने के लिए तैयार रहे। स्त्री जाति का यह कैसा मूल्यांकन !

स्त्री जाति की उपेक्षा का दुष्परिणाम—यह स्पष्ट है कि अभी भी स्त्रियों को समाज में जो स्थान मिलना चाहिए, वह अधिकांश में नहीं मिला है। इसका परिणाम सभी भोग रहे हैं। घरों में सुख शान्ति नहीं, कलह और संघर्ष है। हम अपने मनोविनोद का सामान घर से बाहर सिनेमा, नाटक, नाचघर, और क्लबों में तलाश करते हैं। वह आखिर कितनी देर सुख दे सकता है। पुरुषों ने स्त्रियों को अपना जीवन-साथी और सहयोगी समझने के बजाय अपने भोग विलास का साधन मान लिया, और इसी दृष्टि से उनके शृंगार और सजावट में भाग लेने लगा। स्त्रियों ने इस बात की गहरायी में न जाकर पुरुषों से मिलने वाले वैभव और विलासिता में अपने को सुखी समझने की भूल की। नतीजा यह हुआ कि स्त्री और पुरुष दोनों ने अपनी मानवता खो दी, एक दूसरे के विकास में सहायक होना छोड़ दिया। इससे समाज की प्रगति रुक गयी; कहना चाहिए वह अवनति की ओर बढ़ती जा रही है।

पुरुषों का कर्तव्य—यदि पुरुष को कुछ समझदारी से काम लेना है, उसे समाज को भयंकर क्षति से बचाकर सम्यक् विकास करना है, और स्वयं अपना हित साधन करना है तो उसे स्त्री जाति के उत्थान में भरसक योग देना चाहिए। वह स्त्री को अपना प्रतिद्वन्द्वी न माने,

और उसके लिये किये जाने वाले काम को एक उपकार, दया या कृपा के रूप में न सोचे। स्त्री के कष्टों और असुविधाओं को दूर करने में वह अपने ही कष्टों और असुविधाओं को दूर करता है, स्त्री के विकास से वह अपने विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। स्त्री में सेवा, स्नेह और त्याग की अनुपम शक्ति है, अतः वह शारीरिक मानसिक और आत्मिक उन्नति करती रहे, इसमें पुरुष जहां जितना सहायक हो सके उतना होने की भावना पुरुष में निरन्तर बनी रहनी चाहिए।

स्त्रियों के ध्यान देने की बातें—स्त्री भी यह बात ध्यान में रखे कि पुरुष उसका निकटतम साथी है, पुरुष से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतियोगिता करने में नहीं, वरन् उसके साथ सहयोग करने में ही उसका हित है। पुरुष ने उसके साथ अन्याय किया है पर पुरुष को बनाने वाली वह स्वयं है। यदि वह अपने संतान में अच्छे संस्कार डालें, उन्हें निर्भीक, दयालु और मानवता प्रेमी बनाएँ तो समाज का कायाकल्प ही हो जाय। स्त्रियों को पुरुषों के व्यवहार की शिकायतों में न लगे रह कर स्वयं अपने व्यवहार का यथेष्ट विचार करना चाहिए। कितनी सास हैं जो बहुओं को अपनी बेटी की तरह रखती हैं और कितनी बहुएँ हैं जो हृदय से सास को अपनी माता मानती हैं! अनेक जेठानियों का अपनी दौरानियों के साथ, ननदों का भौजाइयों के साथ जो बर्ताव होता है, वह बहुत आपत्तिजनक रहता है। इसमें सुधार होना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—स्त्रियों में शिक्षा—प्रचार हो रहा है; उनके मार्ग में जो कानूनी रुकावटें हैं वे क्रमशः हट रही हैं। इस प्रकार स्त्रियों की योग्यता और कार्य क्षेत्र बढ़ रहा है। आवश्यकता है कि स्त्रियाँ अपनी योग्यता और शक्ति का अपने निजी स्वार्थ-साधन या भोग-विलास के साधन जुटाने में न लगा कर समाज-हित की दृष्टि से कार्य करें। स्त्री-समाज के उत्थान के लिए अधिक से अधिक महिलाओं को आगे

बढ़ना चाहिये और मिशनरी भावना से अपनी आहुति देने के लिए तैयार होना चाहिए। वेश्या—वृत्ति को हटाने, स्त्रियों के अंध-विश्वास दूर करने, मानवोचित्त जीवन बिताने की प्रेरणा देने में स्त्रियाँ ही महत्वपूर्ण भाग ले सकती हैं और उन्हें लेना चाहिए। भावी समाज-निर्माण के लिए इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। स्त्रियाँ अपना कर्तव्य अच्छी तरह पालन करेंगी तो समाज में उनकी प्रतिष्ठा स्वयं बहुत बढ़ जायगी।

इक्कीसवाँ अध्याय

बालक, भगवान-रूप

बालक प्रकृति की अनमोल देन है; सुन्दरतम कृति है; सब से निर्दोष वस्तु है। बालक मनोविज्ञान का मूल है; शिक्षक की प्रयोगशाला है। बालक मानव-जगत का निर्माता है। बालक के विकास पर दुनिया का विकास निर्भर है। बालक की सेवा ही विश्व की सेवा है।

—बंशीधर

भगवान की विविध विभूतियाँ—इस सृष्टि में लहलहाते पौधे, रंग-बिरंगे फूल, पत्ते और फल, बहती हुई नदियाँ, पहाड़ी झरने का प्रपात, आकाश से बातें करने वाले पर्वत, रात्रि में आसमानी चादर में टिमटिमाते तारे और उनके बीच में शीतल चाँदनी वाला चन्द्रमा, प्रातःकाल उदय होनेवाला प्रकाश-पुञ्ज सूर्यदेव—सभी मनुष्य को अपने निर्माता की याद दिलाते हैं; सब अपनी-अपनी भाषा में भगवान का गुण-गान करते हैं और दर्शक के चित्त को सात्त्विक आनन्द प्रदान करते हैं। आदमी सभी में भगवान की विभूति देखता है; मुग्ध होता है और जगत्पिता की वन्दना की प्रेरणा पाता है तथापि इसके लिए कुछ कवि-हृदय की आवश्यकता है, जो हर किसी में नहीं होता।

बालक की महिमा—पर बालक की बात निराली है, उससे मिलने वाला आनन्द हर किसी को सुलभ है। उसकी मुसकराहट में संसार मुसकराता है। उसकी अस्पष्ट तोतली बोली में प्रकृति अपनी प्रारम्भिक अवस्था का स्मरण कराती है। उसका निष्कपट व्यवहार अच्छे-अच्छों के लिए आदर्शरूप है। उसकी अहिंसा अर्थात् बदला

न लेने का भाव अहिंसा के आचार्यों के लिए भी शिक्षाप्रद है। सत्य का तो वह अवतार ही ठहरा; असत्य की गंध उसके आसपास होती ही नहीं। वह ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं मानता; गरीब अमीर में, राजा और रंक में कोई अंतर नहीं जानता। छुआछूत की—अस्पृश्यता की बात वह क्यों करे, वह तो समता का क्रियाशील उपदेशक ठहरा। उसके लिए जातिभेद, रंग-भेद, राष्ट्र-भेद, धर्म-भेद नहीं है। वह भगवान का सच्चा भक्त है, उसके लिए हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि भेद कृत्रिम और अज्ञानमूलक हैं। उसके लिए ईश्वर एक है; खुदा, परमात्मा या गॉड जुदा-जुदा नहीं। ईश्वर की सब संतान एक-सी हैं, चाहे कोई हिंदुस्तान में रहे या पाकिस्तान में, चाहे एशिया में रहे या यूरोप-अमरीका में। संतान में काले गोरे का भेद माननेवाला पिता अपने कर्तव्य से पतित होता है और इसी तरह मनुष्य मनुष्य में भेद करने वाला भक्त सच्चा भक्त नहीं। बालक तो भगवान का सच्चा भक्त है, वह तो भगवान का रूप ही है; उसे मनुष्य-मनुष्य का भेद कैसे मान्य हो सकता है! बालक समाजवाद और साम्यवाद का ऊँचे से ऊँचा प्रतीक है; दार्शनिकों और चिन्तकों के लिए वह शीर्षस्थान है। सर्वोदय की भावना उससे अधिक और किसमें मिल सकती है! बालक में हमारा भूतकाल मूर्तिमान है; वह सृष्टि के अब तक संपूर्ण इतिहास का सार है। बालक हमारे वर्तमान का चित्र है; वह हमारे भविष्य का भी सूचक है; भावी संसार कैसा होगा, यह वर्तमान बालकों पर निर्भर है, उनके भरण-पोषण, शिक्षा-दीक्षा आदि पर निर्भर है।

मानव जगत के निर्माता का तिरस्कार—ऐसा महिमावान् है बालक, मानव-जगत् का निर्माता। तिस पर भी उसकी कितनी उपेक्षा कितना अपमान और कितना तिरस्कार! हम अपने घर पर नजर डालें या बाहर, पाठशाला में या अन्य शालाओं में, समाज में या राज्य में—

कहीं भी उसे उसके योग्य मान नहीं, वह हर जगह कुछ अवांछनीय सा, कुछ भाररूप-सा बना हुआ है। अच्छी फसल के लिए बीज के सार-सँभाल का महत्त्व हम कुछ समझते हैं, पर भावी जगत के सुन्दर निर्माण के लिए बालक के सार-सँभाल करने की हमें चिन्ता नहीं।

माता-पिता का व्यवहार—अनेक स्थानों में बिना यथेष्ट व्यवस्था के ही भगवान की मूर्ति की प्रतिष्ठा कर दी जाती है और कई-कई मन्दिरों के ऐसे खंडहर होने पर भी जिनमें कोई झाड़ू-बुहारी नहीं करता और चमगादड़ों का राज्य होता है। नये-नये मन्दिरों का निर्माण का शौक पूरा किया जाता है। इसी तरह अनेक परिवारों में बालक को निमन्त्रित तो कर दिया जाता है, पर उसके स्वागत-सत्कार की यथेष्ट तैयारी नहीं की जाती। कितने माता-पिता हैं, जो इस विषय में दोषी नहीं होते? जो अपने आहार-व्यवहार, वाणी और चरित्र पर बालक के हित की दृष्टि से समुचित संयम रखते हैं? गरीबों को अपना ही निर्वाह करते नहीं बनता, फिर वे बालक का अतिथि-सत्कार क्या करें! धनवानों को अपने मौज-शौक से छुट्टी नहीं; उन्हें बालकों के पालन-पोषण का अवकाश कहां से मिले! वे तो धाय या नौकर के ऊपर यह भार डाल देते हैं और अपने कर्तव्य से मुक्ति पाते हैं।

माँ-बाप चाहते हैं कि बालक हर बात में उनके इच्छानुसार चले। जब जो चीज जितनी मात्रा में खिलाना चाहे, बालक उसी समय वह चीज उतनी ही मात्रा में खा ले। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसे खासकर माँ के क्रोध का शिकार बनना पड़ता है। माँ चाहती है कि बालक सो जाय। बालक को उस समय नींद नहीं आती तो माँ की नाराजी उसे सहनी पड़ती है। कितनी ही माताएँ तो बालक को अफीम आदि खिलाकर ही अपनी होशियारी का परिचय देती हैं

बालक से कोई कीमती चीज टूट-फूट जाय तो कितनी माताएँ हैं, जो अपने क्रोध को काबू में रखेंगी! बहुत कम माता-पिता यह जानते हैं कि वे बालक की मनोभूमि में क्रोध और हिंसा का बीज बोकर भावी समाज के लिए एक बड़ा विष-वृक्ष लगा रहे हैं। यही नहीं, झूठ की शिक्षा भी बालक को पहले माता-पिता ही देते हैं। प्रत्यक्ष में नहीं तो परोक्ष में, अर्थात् वाणी से नहीं तो व्यवहार से। अन्यथा बालक तो निष्कपट होता है, वह सत्य का और पूर्ण सत्य का स्वभाव से अनुयायी होता है। कोई आदमी हम से मिलने आता है, जिससे हम मिलना नहीं चाहते। हम बालक को आदेश करते हैं कि जाओ उससे कह दो कि पिताजी घर पर नहीं हैं। बालक कुछ सकुचाता है। वह अपने ढंग से हमें चेताता है कि मुझे झूठ बोलना क्यों सिखाते हो! पर हम बालक की बात की परवाह नहीं करते और उससे आदेश-पालन का आग्रह करते हैं। सत्यवादी बालक आने वाले सज्जन से निवेदन करता करता है—'पिता जी ने कहा है कि कह दो, पिता जी घर नहीं हैं।' हम इसमें बालक की बेवकूफी देखते हैं और उसका तिरस्कार करते हैं। पर यह तो सत्य का और भगवान का तिरस्कार है।

अध्यापकों की दृष्टि—बालक कुछ बड़ा हुआ। पाठशाला में जाने लगा। माँ-बाप ने उसे क्रोध, हिंसा और असत्य की शिक्षा दी थी, उसे आगे बढ़ाने का काम अध्यापक करते हैं। बालक को बात-बात में डराना, धमकाना, मारना-पीटना और उसे झूठ बोलने पर मजबूर करना उनका नित्य का काम है। वह अध्यापक ही क्या, जिसकी बालकों पर धाक जमी हुई न हो। क्लास में अनुशासन न रहने से अध्यापक की अयोग्यता समझी जाती है और कौन ऐसा अध्यापक है जो अपनी इस अयोग्यता का परिचय दे। मनोविज्ञान आगे बढ़ रहा है, पर अध्यापक को यह सूत्र भुलाये नहीं भूलता कि 'छड़ी को विश्राम देना बालक को बिगाड़ना है।' जब अध्यापक किसी बात को अच्छी

तरह नहीं समझा पाता, तब उसका अचूक अस्त्र छड़ी (या अन्य तरह तरह के आविष्कृत दण्ड) है। ये अध्यापक बालक को मानवता से दूर रखने में कितने सहायक होते हैं।

समाज और राज्य की उदासीनता—समाज में हमें अपने बड़ों का आदर-मान करना सिखाया जाता है। अपने मतलब के लिए कुछ ऐसे लोगों के सामने भी हम नत-मस्तक होते रहते हैं, जो हमसे बड़े नहीं होते; पर बालकों से तू-तड़ाक से बात करना तो हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार ही ठहरा। दूसरों के लिए श्रीमान्, महाशय, महोदय, हजूर आदि अनेक सम्मानसूचक सम्बोधन शब्द हैं; पर बालक के लिए तो अच्छे शब्दों का दिवाला ही है। कितने स्थानों में बालकों को 'आप' कहा जाता है। मालूम होता है, हमारा सब शिष्टाचार कृत्रिम या स्वार्थवश है। उसकी असली कसौटी तो यही है कि हम बालक से—अपने से छोटे से—कैसा व्यवहार करते हैं।

आदमियों की सबसे बड़ी व्यापक संस्था राज्य है। इसमें सबके अधिकारों की बात होती है और जो कोई किसी के अधिकारों पर आघात पहुँचाता है, उसे दंड दिया जाता है; पर बालक यहाँ भी उपेक्षित ही रहता है। कुछ समय से बालकों के अधिकारों की चर्चा हो रही है, पर कौन-सा सभ्य राज्य है, जिसने इन अधिकारों की घोषणा की हो और उन की रक्षा की व्यवस्था की हो? मानव सृष्टि में बालक एक अधिकार-हीन प्राणी है, उससे मीठा बोलना, उसके साथ सद्व्यवहार करना एक दया और उदारता का काम समझा जाता है। ऐसा करके उस पर अहसान जताया जाता है; क्योंकि उसका ऐसा कुछ अधिकार तो है ही नहीं, जो कानून द्वारा मान्य हो।

विशेष वक्तव्य—ऐसी चौमुखी उपेक्षा के वातावरण में बालक का सद्विकास कैसे हो? और संसार का ही क्या भला होने वाला

है ! कुम्हार अपने मन में सोच लेता है कि मिट्टी से राम और कृष्ण बनाने हैं या रावण और दुर्योधन । बालक का निर्माण करने वाले हैं—माता, पिता, अध्यापक, समाज और राज्य । ये भी सोचें कि हमें बालकका कैसा निर्माण करना है । क्या हमें गाँधी विनोबा, सुभाष, रवीन्द्र, अरविंद, तिलक, कबीर, तुलसी, अहल्या लक्ष्मीबाई, अकबर और अशोक की आवश्यकता है ? क्या हम टाल्स्टाय, रस्किन, पर्लबक, इमर्सन, गोर्की, रोमारोलाँ, लुई फिशर, वाशिंगटन, लिंकन, मेजिनी और सुकरात जैसे महानुभावोंकी आवश्यकता अनुभव करते हैं ? ऐसी विभूतियाँ एकदम आसमानसे बनी-बनायी नहीं आ जातीं । ऐसा कोई यन्त्र नहीं है, जहाँ बटन दबाने मात्र से ये तैयार मिल जायँ । बालरूप से विकसित होकर ये धीरे-धीरे बनती हैं । इनके निर्माण में जिन-जिन व्यक्तियों का हाथ होता है, वे सब गम्भीरता से अपने कर्तव्य का निश्चय करें । तभी संसार के सुन्दर भविष्य की आशा कार्यरूप में परिणत होगी ।

———

बाइसवाँ अध्याय

परिवार-भावना गाँव भर में

सर्वोदय का अर्थ है कि सब लोग सुखी रहें, पीछे मैं सुखी बनूँगा ; सब को खाना मिले। पीछे मुझे मिले, सर्वोदय की मूर्ति सर्वोदय की मिसाल घर की माता है। सर्वोदय की तालीम हर माता घर-घर में अपने बच्चों को देती है। हर माता बच्चे को दूध के साथ सर्वोदय पिलाती है। माता घर के सब लोगों को खिला कर खाती है। यह जो माता की वृत्ति है, वह सर्वोदय की वृत्ति है।

—विनोबा

परिवार-भावना—मानव समाज के संगठन की प्रारम्भिक इकाई परिवार है। यह प्राकृतिक अर्थात् कुदरती भी है। परिवार में पुरुष और स्त्री एक दूसरे के प्रति, और दोनों अपनी संतान के प्रति कितना प्रेम करते हैं। अनेक दशाओं में भाई-भाइयों का, भाई-बहिन का, और बहिन, बहिनों का प्रेम भी कुछ कम नहीं होता। सब एक दूसरे के लिए बड़ा त्याग करते और कष्ट उठाते हैं। परिवार में जो कमायी होती है, उसपर उनका अलग-अलग अधिकार नहीं होता। वह सब की होती हैं। सब मिलकर उसका उपयोग करते हैं। जिसकी जरूरत कम होती है, वह कम का उपयोग करता है, जिसकी जरूरत अधिक होती है, वह अधिक का उपयोग करता है। परिवार के आदमी ऐसा नहीं सोचते कि दूसरे ने ज्यादा चीज क्यों खायी। अगर कभी घर में चीज कुछ कम होती है तो कम में निभाते हैं; बच्चों, और बूढ़ों का विशेष ध्यान रखा जाता है। ऐसा नहीं होता कि

जवान आदमी पहले मनमाना खर्च करदे, और दूसरों का विचार ही न करें। इस प्रकार पारिवारिक भावना का अर्थ मिल-जुल कर प्रेम से, सद्भाव से, सहयोग पूर्वक रहना और एक दूसरे के सुख-दुःख में भाग लेना, खानपान आदि प्रत्येक बात में एक-दूसरे की जरूरत और हित का ध्यान रखना, तथा सेवा और सहायता करना है।

संयुक्त-परिवार प्रणाली—भारतवर्ष में पहले एक पिता के सब लड़कों के परिवार एक साथ इकट्ठे रहा करते थे। सब मिल कर धन पैदा करते और उसे बड़े-बूढ़े के पास जमा करते थे। इस सम्मिलित कोष से घर के सब आदमियों की विविध जरूरतें पूरी होती थीं। इस सम्पत्ति पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार न होकर यह सबकी सम्मिलित या साझे की समझी जाती थी। इस प्रणाली का अब बहुत ह्रास हो गया है; ऐसा क्यों हुआ, इसके ब्योरे में न जाकर हमें यहाँ यह कहना है कि इस प्रणाली में परिवार का कोई व्यक्ति अपने आपको अनाथ या असहाय अनुभव नहीं करता था। यदि किसी बालक के पिता का देहान्त हो जाता तो उसके चाचा ताऊ आदि के कारण उसके भरण-पोषण या शिक्षण में कोई कमी न होती। विधवाओं को अपने निर्वाह के लिए तथा बीमारी के समय कुछ चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी, उसकी सब व्यवस्था परिवार में होती रहती। यदि वह सन्तान-हीन होती तो परिवार के बालकों से उसका मन बहल जाता। इसी प्रकार बुढ़ों के लिए भी समुचित व्यवस्था रहती थी, न तो समाज या राज्य को उनके लिए कुछ अलग प्रबन्ध करना होता था और न वे इस प्रबन्ध के अभाव में अपने को दीन दुखी अनुभव करते थे; उन पर परिवार की छत्रछाया रहती थी।

पारिवारिक मान्यताएँ—पारिवारिक जीवन पर विचार करने से हमारा ध्यान घरेलू मूल्यों और मान्यताओं की ओर जाता है, जो खास-कर ये हैं—

(१) परिवार का कोई व्यक्ति उसकी सम्पत्ति को अपनी निजी मिलकियत नहीं मानता, उस सम्पत्ति का उपयोग सब अपनी-अपनी जरूरत के मुताबिक करते हैं; उस पर सब का सम्मिलित अधिकार होता है।

(२) एक व्यक्ति के सुख में सब सुखी होते हैं, और एक के दुख में सब दुख मानते हैं, अर्थात् उनका सुख-दुख बंटा रहता है। प्रत्येक व्यक्ति यह कोशिश करता है कि वह दूसरों का सुख बढ़ाये और उनका दुख घटाने में भरसक सहायक हो। इसलिए हर एक अपनी शक्ति भर परिश्रम करता है; त्याग करता है, और कष्ट सहने को तैयार रहता है।

(३) घर में किस चीज की जरूरत है, कौनसी चीज बाहर से मंगायी जाय और कौन सी चीज न मंगायी जाय, इसका निर्णय घर वाले मिलकर करते हैं; कोई आदमी दूसरों की इच्छा के विरुद्ध, या उनको नाराज करके कोई चीज बाहर से नहीं लाता। बाहर वालों का तो इसमें कोई दखल होता ही नहीं।

(४) घर में वाद-विवाद या झगड़े बहुत कम होते हैं; और जब कोई झगड़ा होता भी है तो उसे घर के आदमी आपस में निपटा लेते हैं, वे उसे बाहर किसी के पास नहीं ले जाते।

समाज में परिवार-भावना की आवश्यकता—इन गुणों से परिवार का जीवन सुखमय होता है और उसकी उन्नति होती है। यदि ये बातें हमारे सामाजिक जीवन में भी हों तो समाज का जीवन बहुत सुखमय हो जाय। पर वर्तमान समाज में इनकी बहुत कमी है। उसमें विविध वस्तुओं पर व्यक्तियों का अलग-अलग स्वामित्व है, कानून से भी ऐसा मान्य है। जो चीज जिसकी मानी जाती है, वह उसी के उपयोग में आती है। अगर वह चीज उसकी आवश्यकता से अधिक

हो तो बेकार पड़ी रहती है। पर दूसरा आदमी, चाहे उसे उसकी कितनी ही जरूरत क्यों न हो, उसका उपयोग नहीं कर सकता। इसी प्रकार जिनके पास चीज कम होती है, उन्हें कम पर गुजारा करना पड़ता है, चाहे इससे उन्हें कितना ही कष्ट क्यों न सहना पड़े, यहाँ तक कि अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़े। इससे समाज में धनी और निर्धन लोगों के बीच में चौड़ी खाई है। संघर्ष, अशान्ति और असंतोष है। निर्धन तो कष्ट पाते ही हैं; धनवानों को भी सुख की नींद नसीब नहीं। उन्हें अपने संग्रह की रक्षा करने की चिन्ता सताती है, और उन्हें गरीबों से भय रहता है। इसलिए समाज में पारिवारिक भावना बढ़ाने की बहुत आवश्यकता है।

आदमियों को सम्पत्ति के स्वामित्व के विसर्जन का महत्व समझाना है। जिस तरह परिवार में किसी को सम्पत्ति का मालिकी अधिकार नहीं होता, उसी तरह समाज में भी सम्पत्ति की निजी मालकियत नहीं रहनी चाहिए। आदमी अपनी जरूरत के अनुसार ही सम्पत्ति का उपयोग करें, शेष सम्पत्ति को वे समाज की धरोहर के रूप में रखें, मालिक बन कर उसका संग्रह न करें; संग्रह तो समाज में ही होना चाहिए।

दूसरी बात यह कि जैसे परिवार में आदमी एक दूसरे के सुख-दुख को अपना सुख-दुःख मानता है, उसी तरह समाज में भी आदमी एक-दूसरे के सुख-दुःख में यथेष्ट भाग ले। एक गांव या नगर में इतने आदमी औरतें रहती हैं, अगर कोई बीमार पड़े तो उसकी चिन्ता सब को होनी चाहिए। इसी प्रकार एक व्यक्ति के किसी अभाव को दूसरे आदमी अपना मान कर उसकी पूर्ति का प्रयत्न करें। सब में स्नेह, सेवा और आत्मीयता की भावना हो। सब मिल जुल कर रहें। लड़ाई-झगड़े की बात ही न हो, और यदि कभी किसी बात पर दो आदमियों या दो घर वालों का मत-भेद या विरोध हो तो वे उसे अपने

स्थानीय भाइयों की सलाह के मुताबिक निपटा लें; दूसरे स्थान वालों तक उसे न पहुँचने दें।

गाँव को परिवार मानें—इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए व्यवहारिक कार्य यह है कि गांव एक परिवार हो। गांव को हम अपना परिवार मानें। जिस तरह परिवार में आदमी सब चीजों को बांटकर खाते और उपयोग करते हैं, उसी तरह गांव में भी हम अकेले-अकेले किसी चीज का उपयोग न करें। हम देखें किस की जरूरत कितनी है, और उसी हिसाब से सब को वह चीज मिले। बच्चों, बूढ़ों, कमजोर और रोगियों का विशेष ध्यान रखा जाय। रोगियों के उपचार और सेवा-शुश्रूषा में सब आवश्यकतानुसार भाग लें, उनके कष्ट-निवारण की पूरी व्यवस्था हो। बच्चों के पालन-पोषण और शिक्षण का समुचित प्रबन्ध हो वे तो भगवान की मूर्ति हैं, उनकी सेवा सहायता भगवान की पूजा मानी जाय। किसी व्यक्ति को कभी अपने आप को अनाथ या असहाय समझने का अवसर न आये। सब में प्रेम, सहयोग और अनुशासन की भावना हो। गांव अधिक से अधिक स्वावलम्बी हो, वहाँ कोई चीज बाहर से मंगानी है या नहीं, और यदि मंगानी है तो कितनी मात्रा में—इसका निर्णय स्वयं गांव वाले करें। इसके अलावा गाँव में यदि कभी कोई झगड़ा हो जाय तो उसका निपटारा वहाँ ही ग्राम पंचायत द्वारा किया जाय, बाहर वालों को उसका पता ही न लगे; अपने घर के झगड़ों का फैसला कराने हम बाहर जायं, यह हमारे लिए अपमानजनक और अशोभनीय है।

ग्रामदान की उपयोगिता—गांव को परिवार बनाने के लिए एक मुख्य कार्य ग्राम-दान है। भारत में सन् १९५१ से जो भूदान कार्य चला है, वह अब ग्रामदान का रूप ले रहा है। जो गांव पूरे के पूरे दान में मिले हैं, उनमें कुल जमीन गांव भर की होगी, काश्त करने के लिए हर परिवार को उसके आवश्यकतानुसार जमीन दी जायगी।

परन्तु मालकियत किसी की भी न होगी। कोई खेतीहर परिवार भूमि-हीन न होगा, और खेती न करने वालों के पास व्यर्थ में जमीन न रहेगी। किसी के पास जो ज़मीन होगी, वह केवल खेती करने के लिए; बेचने या रहन रखने का अधिकार उसे न होगा। इस प्रकार अब यह नारा चल रहा है—

(१) हमारे गांव में भूमिहीन ?
अब कोई न रहेगा, कोई न रहेगा।

(२) हमारे गांव में भूमि-मालिक ?
अब कोई न रहेगा, कोई न रहेगा।

इस सिलसिले में अन्य आवश्यक कार्य ये होंगे—

(१) जमीन की सिंचाई की योजना करनी होगी। इसके लिए प्रत्येक किसान परिवार के लिए बैलों की व्यवस्था की जा रही है। कूपदान का क्रम भी चल रहा है, जिससे आवश्यकतानुसार पुराने कुओं को ठीक करने तथा नये कुएँ बनवाने का काम किया जाता है।

(२) गांव में खेती द्वारा ही चीजें पैदा की जायँगी, जिनकी गांव वालों को जरूरत होती है अर्थात् कच्चे माल की पैदावार बेंचकर नफा कमाने की दृष्टि न होगी। उत्पादन में लोगों का एक दूसरे से सहयोग होगा और वह गांव की आवश्यकता से अधिक ही किया जायगा, जिससे संकट के समय काम आये तथा दूसरे गांवों की सहायता की जा सके।

(३) ग्रामोद्योगों द्वारा गांव को स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न किया जायगा। आवश्यक कपड़ा तैयार करने के लिए कपास बोने से लेकर बुनने तक का सब कार्य गांव-गांव में होगा। इसी प्रकार अन्य आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था की जायगी। गांव में लोगों की निजी दुकानें न होंगी। एक सम्मिलित दुकान द्वारा सब क्रय-विक्रय होगा। यदि कभी

कोई चीज बाहर से मंगानी होगी, या बाहर भेजनी होगी तो वह कार्य ग्राम-समिति की अनुमति से यह दुकान ही करेगी।

(४) गांव में सब बालकों को जीवन-सम्बन्धी आवश्यक शिक्षा दी जायगी। शिक्षा किसी उद्योग द्वारा दी जायगी। नैतिक शिक्षा का यथेष्ट ध्यान रहेगा।

(५) सब विवाह-शादी आदि गांव की तरफ से होंगी, उनके लिए सम्मिलित खर्च किया जायगा। उनके वास्ते कर्ज लेने का कोई प्रश्न न होगा।

(६) आपसी व्यवहार में जाति-भेद, छुआछूत, धार्मिक भेद-भाव स्त्री-पुरुष भेद-भाव आदि न होगा। मानवता का विचार रहेगा।

गाँव को परिवार बनाने से लाभ—जैसा की विनोबा ने बताया है, गांव को परिवार बनाने से कई लाभ होंगे। (१) इससे गांव की दौलत बढ़ाने में बड़ी सहूलियत होगी। किस खेत में क्या बोना चाहिए, इस बात पर सारे गांव वाले सोचेंगे और सब मिलकर आयोजन करेंगे। गांव की फसल का कितना हिस्सा बेचना है, इसका भी विचार गांव की समिति करेगी। गांव में खेती के सुधार के लिए क्या-क्या करना चाहिए, यह भी सोचा जायगा। किसी खास मौके पर गांव के लिए बाहर से या सरकार से मदद हासिल करनी है तो ऐसे गांव में उसमें सुविधा होगी। यह आर्थिक लाभ की बात हुई।

(२) उस गाँव में परस्पर प्रेम बढ़ेगा और जीवन में आनन्द आयेगा। सब एक दूसरे का सुख-दुःख समझेंगे और उसमें हिस्सा लेंगे तो गांव में आनन्द बढ़ेगा। आनन्द अनेक के सहकार से होता है। जहाँ हर मनुष्य अपना स्वार्थ भूल जाता है वहां आनन्द का निर्माण होता है। इस तरह गांव का एक परिवार बनने से जीवन का आनन्द रुचि और स्वाद बढ़ेगा। इसे हम सांस्कृतिक लाभ कह सकते हैं।

(३) लोगों का नैतिक स्तर ऊपर उठेगा। झगड़े, गाली-गलौज, चोरी आदि सब कम होंगे। घर के अन्दर चोरी नहीं होती। जहां गांव

का एक घर बन जाता है, वहां चोरी मिट जाती है। उससे नीति बढ़ती है। दुनिया में परस्पर स्वार्थ की जो टक्कर चलती है, उससे दुनिया दुखी है और परिणाम-स्वरूप हिंसा खूब बढ़ गयी है। इसलिए अगर हम गांव की जमीन और सम्पत्ति गांव की बना देते हैं तो सारी दुनिया को नैतिक उत्थान का रास्ता मिल जाता है।

(४) मेरा-मेरा चलता है तो मनुष्य आसक्त बन जाता है, कैदी बनता है। जब मनुष्य 'मैं' और 'मेरा' यह सब छोड़ देगा और यह कहेगा कि यह सब हमारा है, मेरा कुछ नहीं है तो वह जल्दी मुक्त हो जायगा। मुक्ति की युक्ति यह है कि हम अपना घर छोटा न समझें। सारा गांव हमारा घर है और हमारा जो छोटा घर हम बनाते हैं, वह भी सबका है, ऐसा समझें। हमारे पास जो कुछ है, वह सारे गांव का है, मैं भी गांव का हूँ और गांव मेरा है, ऐसी भावना जब बनती है तब मनुष्य आसानी से मुक्त होता है।

परिवार-भावना व्यापक हो, पर अतिव्यापक नहीं—ऊपर कहा गया है कि परिवार भावना परिवार तक सीमित न रह कर, समाज के क्षेत्र में भी आये, और हम गांव को अपना परिवार मानें। यहां एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है। जैसा विनोबा जी ने कहा है कुछ लोग आक्षेप उठाते हैं कि बड़े परिवार में मनुष्य को कर्त्तव्य की प्रेरणा नहीं होती, जो कि छोटे परिवार में होती है। इसमें कुछ सच्चाई अवश्य है। हम देखते हैं कि छोटे पैमाने पर उपासना अच्छी होती है, पर जब बहुत बड़ा विस्तृत आकार हो जाता है तो वह वस्तु अव्यक्त हो जाती है और उससे प्रेरणा नहीं मिल पाती। इसी लिए तो हम सारे देश या सरकार की मालकियत की बात नहीं कहते। हम गांव का ही परिवार बनाने की बात करते हैं। हमें अपने परिवार को व्यापक तो बनाना चाहिए, परन्तु वह अतिव्यापक न हो। वह इतना ही व्यापक हो, जिसे हम साधारणतया ग्रहण कर सकें। इस मध्यम

मार्ग ग्रहण करने से सेवा का क्षेत्र अच्छा रहेगा और बुद्धि भी व्यापक होगी। सारी जमीन और संपत्ति देश की या दुनिया की है, ऐसा कहने में विचार की उदारता या विशालता तो होती है; परन्तु उसमें सेवा की प्रेरणा नहीं होती है। वह कुछ अव्यक्त सी हो जाती है। इसलिए उसकी उपासना बड़ी कठिन हो जाती है। और अगर हम एक छोटा-सा परिवार बनाकर उसी में रहते हैं, तो उससे सेवा की प्रेरणा तो मिलती है, परन्तु विचार अनुदार और संकुचित बनता है। इसलिए सेवा की प्रेरणा भी बलवान रहे और विचार भी उदार बने, तो इन दोनों का समन्वय ग्रामीकरण में हो जाता है। आज के वैज्ञानिक जमाने में मनुष्य का जीवन जिस तरह बन रहा है, उसे ध्यान में रखते हुए, अगर हम गाँव का एक परिवार नहीं बनायेंगे; तो अपनी बहुत-सी समस्याएँ हल करना हमारे लिए कठिन हो जायेगा। इसलिए ग्राम-परिवार बनाने की यह कल्पना एक व्यावहारिक कार्यक्रम की कल्पना है।

विशेष वक्तव्य—इस प्रकार अभी हम गाँव को परिवार मानें, गाँव भर से व्यवहार करने में परिवार-भावना रखें। आदर्श तो यही है कि इस परिवार-भावना का क्षेत्र क्रमशः बढ़ता जाय, इसका निरंतर प्रयत्न जारी रखना है। धैर्य-पूर्वक आगे की मन्जिलें तय करते रहना है, यहाँ तक कि इस भावना को विश्व भर में फैलाना है, सारे संसार को अपना कुटुम्ब मानना है—'वसुधैव कुटम्बकम्।' यह आदर्श विज्ञान और मानवता का यथेष्ट विकास होने पर व्यावहारिक बनेगा।

---

*'भूदान-यज्ञ', ३० सितम्बर ५५ के आधार पर।

तेइसवां अध्याय

प्रत्येक गाँव स्वयं-पूर्ण

जब अपना हरेक अवयव काम करेगा तब सारा शरीर काम करेगा। आँख, कान, पाँव, हाथ, दाँत अच्छा काम करेंगे तो सारा शरीर अच्छा काम करेगा। अगर इनमें से एक भी कम काम करता है तो देह का काम अच्छा नहीं चलता है। उसी तरह सारे गाँव अपना काम अच्छी तरह से चलाएँगे, गाँव-गाँव में स्वराज्य होगा तो अपने देश का भला होगा।

—विनोबा

गाँव में पूरे जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हो—गाँव में आदमी के जीवन का कोई खास भाग ही नहीं बीतता। वहाँ आदमी जन्म से लेकर मृत्यु तक पूरा जीवन बिताता है। बचपन, किशोरावस्था, जवानी, बुढ़ापा सभी वहाँ बीतता है; यह नहीं होता कि वहाँ केवल बालक या केवल जवान ही रहते हों। ऐसी योजना नहीं है कि अमुक उम्र के, अमुक योग्यता के, या अमुक अवस्था के ही आदमी रहें। वहाँ बच्चे जन्म लेते हैं, बड़े होते हैं, पढ़ते हैं; उनकी विवाह-शादी होती है, वे बीमार भी पड़ते हैं। वे अपनी आजीविका के लिए खेती उद्योग धंधा करते हैं। वे अकसर मिल-जुल कर रहते हैं। कभी-कभी उनमें वाद-विवाद या लड़ाई-झगड़ा भी होता है। इसलिए इन सभी अवस्थाओं के आदमियों की आवश्यकताओं की पूर्ति वहाँ ही होनी चाहिए, उन्हें अपने जीवन की रोजमर्रा की जरूरतों को पूरा करने के लिए दूर-दूर भटकने को मजबूर नहीं होना चाहिए।

ग्राम राज; सब विभागों की स्थापना—इसके लिए जरूरी है कि हरेक गाँव में ग्रामराज हो। अभी देश में तो स्वराज्य हो गया है (इसे वास्तव में स्वदेशी राज्य कहना चाहिए), पर गाँवों में स्वराज्य अर्थात् ग्रामराज नहीं हुआ है। जब गाँव वालों की सब जरूरतें गाँवों में, और गाँव वालों द्वारा ही पूरी हों तो उसे ग्रामराज समझना चाहिए। विनोबा ने कहा है—'हमें हरेक गाँव में राज्य चलाना होगा। एक देश में विचार के जितने विभाग होते हैं और जितने काम होते हैं, उतने सारे गाँव में होंगे। वहाँ पर आरोग्य-विभाग होता है तो गाँव में भी आरोग्य-विभाग होना चाहिए, वहाँ पर उद्योग-विभाग, कृषि-विभाग, तालीम-विभाग, न्याय-विचारण-विभाग होते हैं तो ग। में भी उतने सारे विभाग होने चाहिए। वहाँ पर परराष्ट्र से साथ सम्बन्ध आता है तो ग्राम में भी पर-ग्राम के सम्बन्ध आएगा।'

विद्यापीठ, और राज्य-शास्त्र के ज्ञाताओं का निर्माण—इस तरह छोटे-छोटे गाँव में राज्य होगा तो हर गाँव में राज्यकार-धुरंधरों का समूह होगा। गाँव-गाँव में अनुभवी लोग होंगे। दिल्ली वालों को राज्य चलाने में कभी मुश्किल मालूम हुई तो वे सोचेंगे कि दो-चार गाँवों में चला जाय और वहाँ के लोग किस प्रकार से राज्य चलाते हैं, यह देखा जाय, क्योंकि राज्य—शास्त्र-विद्या-पारंगत लोग गाँव-गाँव में रहते हैं, इसलिए गाँव-गाँव में विद्यापीठ होना चाहिए। आज तो लोग कहते हैं कि गाँव में राज्य-शास्त्र के ज्ञाता कोई नहीं हैं, जिले में भी राज्य शास्त्र के ज्ञाता नहीं हैं। सारे आंध्र-प्रदेश* में राज्य-शास्त्र के ज्ञाता दो-तीन ही होंगे। जब स्वराज्य चलाना चाहते हो तो राज्यशास्त्र के ज्ञाता इतने कम होने से कैसे काम चलेगा? इसलिए गाँव-गाँव में ऐसे ज्ञाता होने चाहिए।'

---

*श्री विनोबा आंध्र-प्रदेश में भाषण दे रहे थे इससे वहाँ का उल्लेख किया; अन्यत्र भी ऐसी ही बात है।

परस्परावलम्बन चाहिए, परन्तु समर्थों का—ऐसी बातों को पढ़-सुनकर कुछ लोग कहते हैं कि यह योजना स्वावलम्बन की है, परस्परावलम्बन की नहीं। क्या हम एक-दूसरे से जुदा-जुदा रहें, आपस में सम्पर्क और सहयोग न रखें? इस प्रश्न के जवाब में विनोबा ने कहा है—'परस्परावलम्बन दो प्रकार का होता है। एक अंधे और लंगड़े का परस्परावलम्बन होता है। अंधा देख नहीं सकता है, परन्तु चल सकता है। और लंगड़ा देख सकता है, परन्तु चल नहीं सकता है। इसलिए दोनों परस्परावलंबन या सहयोग करते हैं। लंगड़ा अंधे के कन्धे पर बैठता है। वह देखने का काम करता है और अन्धा चलने का काम करता है। इस तरह क्या आप समाज के कुछ लोगों को अन्धा रखना चाहते हैं और कुछ लोगों को लंगड़ा रखना चाहते हैं और फिर दोनों का परस्परावलंबन चाहते हैं? बाबा भी परस्परावलंबन चाहता है। परन्तु वह चाहता है कि दोनों आँख वाले हों, दोनों पाँव वाले हों और फिर हाथ में हाथ मिलाकर दोनों साथ-साथ चलें। बाबा समर्थों का परस्परावलंबन चाहता है और ये लोग व्यंगयुक्त या अक्षम लोगों का परस्परावलंबन चाहते हैं।'

प्रत्येक गाँव स्वयं पूर्ण होगा—आगे विनोबा कहते हैं—'बाबा भी परस्परावलंबन चाहता है, क्योंकि हम जानते हैं कि सारी की सारी चीजें एक गाँव में नहीं बन सकती हैं। एक गाँव को दूसरे गाँव के साथ और गाँवों को शहरों के साथ सहयोग करना होता है। लेकिन हम यह नहीं चाहते कि गाँवों में शहरों से चावल कूटकर, आटा पिसवाकर और चीनी बनवाकर लायी जाय। हम चाहते हैं कि ये चीजें गाँव में ही बनें। लेकिन गाँवों में चश्मा, थर्मामीटर, लाउड-स्पीकर जैसी चीजों की जरूरत पड़ी तो वे चीजें शहर से लायी जायें। आज यह होता है कि शहर वाले गांव वालों के उद्योग खुद करते हैं। गांव में कच्चा माल होता है और उसका पक्का माल गाँव में ही बन

सकता है। लेकिन आज शहरों में यंत्रों के द्वारा पक्का माल बनाया जाता है। उधर परदेश का जो माल शहरों में आता है, उसे रोकते नहीं। हम चाहते हैं कि गांव के उद्योग गांव में चलें और परदेश से जो माल आता है, उसे रोकने के लिए वह माल शहरों में बनाया जाय। अगर गांव के उद्योग खत्म होंगे तो न सिर्फ गांवों पर संकट आयेगा, बल्कि शहरों पर भी संकट आयेगा। फिर गांव के बेकार लोगों का शहरों पर हमला होगा और उधर से परदेशी माल का हमला तो होता ही रहेगा। इस तरह दोनों हमलों के बीच में शहर वाले पिस जायेंगे। इसलिए हमारी योजना में गाँव और शहरों के बीच इस तरह का सहयोग होगा कि गाँव वाले अपने उद्योग गांव में चलायेंगे और शहर वाले परदेश से आने वाली चीजें शहर में बनायेंगे। इस तरह प्रत्येक गांव पूर्ण होगा और पूर्णों का सहयोग होगा।

विशेष-वक्तव्य—गांवों की परिपूर्णता के सम्बन्ध में कुछ बातें 'अर्थ-रचना और राज्य-रचना विकेन्द्रित' तथा 'शिक्षा, जीवनोपयोगी' शीर्षक अध्यायों में कही गयी हैं। पाठक उन्हें ध्यान में रखने की कृपा करें।

---

*इस अध्याय में श्री विनोबा के जो कथन उद्धृत किये गये हैं, ये उनके उस भाषण से हैं, जो ६-८-५५ को कोटीपाम (श्री काकुलम, आंध्र) में दिया गया था और 'भूदान-यज्ञ' के २६ अगस्त ५५ के अङ्क में प्रकाशित हुआ है।

चौबीसवाँ अध्याय

गाँव सुखी, संसार सुखी

हम ऐसा समाज बनाना चाहते हैं जो परिवार-व्यवस्था का व्यापक फैला हुआ रूप होगा। इसका आरम्भ हम गाँव में करना चाहते हैं और इसका अन्त हम दुनिया में करना चाहते हैं।

—विनोबा

संसार-सुख का मूल : व्यक्ति विकास—संसार में विविध देश हैं और संसार के सुख के लिए सब देशों का सुखी होना आवश्यक है। इसी प्रकार प्रत्येक देश के सुख के लिए उसके विविध गांवों (और शहरों) का, और प्रत्येक गांव के सुख के लिए उसके सब व्यक्तियों का सुखी होना जरूरी है। इस तरह संसार का सुख या उत्थान अन्ततः व्यक्तियों के उत्थान और सुख पर निर्भर है। संसार का केन्द्र व्यक्ति है। संसार-सुख की समस्या वास्तव में व्यक्ति-विकास की समस्या है। जब तक स्वस्थ व्यक्तित्व का निर्माण न होगा, संसार के विविध विकारों से मुक्त होने की आशा नहीं की जानी चाहिए। व्यक्तित्व विश्व का प्रतीक है। बुराई-भलाई, गुण-दुर्गुण जो बात अल्प मात्रा में व्यक्ति में होगी, वही बड़े परिमाण में संसार में पायी जायगी। सुखी संसार बनाने का काम वास्तव में व्यक्ति-निर्माण का काम है। विकसित व्यक्ति अपने आसपास के वातावरण को प्रभावित करता हुआ समाज के उत्थान में सहायक होता है।

मनुष्य केवल उसका भौतिक शरीर नहीं—इस प्रसंग में यह याद रखना जरूरी है कि मनुष्य केवल उसका भौतिक शरीर नहीं।

यह ठीक है कि आदमी हाड़-मांस का पुतला है, हाड़-मांस के बिना उसका अस्तित्व नहीं रह सकता। तथापि वह केवल हाड़-मांस नहीं। मनुष्य में शरीर के अतिरिक्त मन और आत्मा का समावेश है। इस-लिए व्यक्ति का जब तक मानसिक और आत्मिक विकास न हो, उसके विकास या निर्माण का कार्य अधूरा या एकांगी है। वास्तव में शरीर एक साधन मात्र है, उसका रक्षण-पोषण आवश्यक है। पर वही जीवन का लक्ष्य नहीं।

खेद है कि प्रायः आदमी इस तत्व की बात को भूला रहता है। हम शरीर को ही साध्य मान कर उसकी (भौतिक) आवश्यकताओं की पूर्ति में लगे रहते हैं। भोजन-वस्त्रादि को शरीर के लिए न मान कर शरीर को ही भोजन-वस्त्रादि के लिए समझ लेते हैं, और विविध भोगोपभोगों द्वारा अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने में लगे रहते हैं। जितना हम भोगों को भोगते हैं, उतनी ही हमारी इन्द्रियों की अपने-अपने विषय की भूख बढ़ती जाती है। इस प्रकार कभी भी हमारी तृप्ति होने में नहीं आती; हरदम मन में असंतोष, अशान्ति और उद्वेग बना रहता है। यहाँ तक कि अन्त में हमें निराशा-पूर्वक स्वीकार करना होता है कि 'भोगा न भुक्ता, वयमेव भुक्ताः।'

आध्यात्मिक उन्नति की आवश्यकता—व्यक्ति के वास्तविक विकास के लिए आध्यात्मिक उन्नति की बहुत आवश्यकता है। इसके लिए संसार के विचारकों ने समय-समय पर जनता को उपदेश दिया है तथा उसका पथ-प्रदर्शन किया है। भारतीय आचार्यों ने जीवन में यम-नियम की आवश्यकता और उपयोगिता बतायी है। यम पांच हैं – अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरि-ग्रह। नियम भी पांच है—शौच (शारीरिक और मानसिक स्वच्छता), संतोष, तप (सत्कार्यों के लिए साधना या कष्ट सहन), स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (विश्व को ईश्वरमय मानना)। इन यम-

नियमों का एक दूसरे से बहुत सम्बन्ध है। एक के पालन करने से दूसरे का पालन करना सरल हो जाता है, यहाँ तक कि एक के पालन का अर्थ एक सीमा तक दूसरे का भी पालन हो जाता है। आध्यात्मिक विकास के अभिलाषी प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में इसके पालन की ओर समुचित ध्यान देना चाहिए।

व्यक्ति अच्छे गाँवों का निर्माण करें; संसार सुखी होगा— अच्छे गुणों वाले व्यक्ति ही अच्छे गाँवों का निर्माण कर सकते हैं। जिन मानवी गुणों का परिचय हम अपने परिवार में देते हैं, उन गुणों के अनुसार ही हम गाँव में व्यवहार करें, अर्थात् गाँव को परिवार मान कर रहें तो गाँव का जीवन कितना सुखमय हो। गाँवों के स्वावलम्बी होने की बात पहले बतायी जा चुकी है। स्वावलम्बी गाँव अपने यहाँ किसी ऐसे पदार्थ का आयात न होने देगा जो वहाँ के आदमियों के काम या रोजगार को क्षति पहुँचाए या जिससे जनता का शोषण हो। वह किसी पदार्थ का निर्यात दूसरों की सेवा या सहायता की दृष्टि से ही करेगा, उनसे अनुचित लाभ उठाने के लिए नहीं। इस प्रकार गाँव न तो किसी को हानि पहुँचायेगा और न दूसरों को ही ऐसा अवसर देगा कि वे उसे कुछ क्षति पहुँचावें। गाँव ऐसा होगा, तभी संसार सुखी होगा संसार गाँव-रूपी इकाइयों का समूह है, गाँव नीचे की बुनियाद है, वह अच्छी मजबूत होगी तो उसके ऊपर का भवन—विश्व या संसार—दृढ़ और टिकाऊ होगा। संसार को सुखी करने का कार्य गाँव से आरम्भ होगा, तभी उसमें स्थिरता आएगी।

सभी गाँवों के उत्थान की आवश्यकता—यहाँ एक बात को ध्यान में रखना आवश्यक है। हमारे कितने ही समझदार आदमी भी देश के उत्थान की बात सोचते समय सब गाँवों को अपने सामने नहीं रखते। उनका विचार यही रहता है कि जितने गाँवों का सुधार

हो जाय, अच्छा है; कुछ गाँव अवनत या पिछड़े हुए रह जायँ तो रह जायँ। परन्तु विचार करना चाहिए कि हम अपने शरीर को तभी स्वस्थ कह सकते हैं जब उसका प्रत्येक अंग स्वस्थ और ठीक काम करने वाला हो। इसी प्रकार हमारा राष्ट्र-रूपी शरीर जिन गाँवों का बना हुआ है, उनमें से कुछ की उपेक्षा करने से हमारा राष्ट्र कैसे अच्छा हो सकता है! और अपूर्ण रूप से विकसित राष्ट्रों का जो संसार बनता है, वह यथेष्ट सुख शान्ति का अनुभव कैसे कर सकता है! निदान, संसार को सुखी बनाने के लिए हम अपने कुछ गाँवों की उपेक्षा नहीं कर सकते, हमें सभी गाँवों के अभ्युत्थान का विचार करना है, और तदनुसार कार्य-क्रम बनाना है। तभी हमें अपने उद्देश्य सिद्धि में सफलता होगी।

विज्ञान को चुनौती—भौतिक विज्ञान की उन्नति और प्रसार के कारण भौगोलिक रूप से यह दुनिया एक छोटी सी बस्ती सरीखी बन गयी है। विज्ञान ने यह सम्भव कर दिया है कि आदमी दूर-दूर के निवासियों से सम्बन्ध स्थापित कर उनके सुख को बढ़ाये तथा उनके कष्टों और अभावों को दूर करे। परन्तु यह तभी हो सकता है जबकि हमारी इच्छा या भावना ऐसा करने की हो। यदि हमारी प्रेम और सेवा भावना का विकास न हो, और हम दूसरे आदमियों को पराया, या गैर, बाहरी या विदेशी मानकर उनके प्रति दुर्भाव रखें तो विज्ञान हमें एक-दूसरे को कष्ट पहुँचाने में, और इस प्रकार संसार को अधिक दुखी, संघर्षमय और अशान्त बनाने में भी मदद कर सकता है। इसलिए जरूरी है कि हम प्रेम और सेवा की भावना को विश्व भर में फैला कर और इसे अमल में लाकर सब को सुखी बनाएँ।

विशेष वक्तव्य—संसार भर में ऐसी भावना फैलाने की बात सुन कर इस कार्य की महत्ता से घबराने की जरूरत नहीं। हमें धैर्य पूर्वक इस दिशा में बढ़ते रहने का प्रयत्न करना है। इसके लिए गाँव

भर में परिवार भावना से बर्ताव करना है। हम गाँव के सब पुरुषों और स्त्रियों को उनकी उम्र के अनुसार अपना भाई-बहिन, चाचा-चाची या ताऊ-ताई आदि मानें। सब बालकों से हम अपने बालकों जैसा व्यवहार करें। हमारे सामने जाति या सम्प्रदाय आदि की संकुचित दृष्टि न हो; आर्थिक या सामाजिक भेद-भाव की बात न हो। इस तरह की भावना आगे बढ़ती रहे। एक गाँव का प्रकाश दूसरे गाँव में पहुँचेगा और वहाँ के प्रकाश से मिल कर वह और अधिक प्रभावकारी होगा। प्रेम और सेवा की लहर का विस्तार बढ़ता जायगा। देश या राज्य की कृत्रिम सीमाएँ उसमें बाधक न होंगी, बाधक नहीं हो सकेंगी। मानव हृदय की पुकार मानव हृदयों तक पहुँचेगी। मनुष्य जाति एक है, ऐसा अनुभव मनुष्य करेगा; वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श रखते हुए सर्वोदय समाज की रचना में अपना कर्तव्य पालन करने वाला होगा। शुभम्।

सहायक साहित्य

धर्म चक्र प्रवर्त्तन	... ...	विनोबा
सर्वोदय यात्रा	... ...	,,
साहित्यिकों से	... ...	,,
हमारी भूमि-समस्या का हल	...	जयप्रकाश नारायण
मानवीय क्रान्ति	... ...	दादा धर्माधिकारी
क्रान्ति का अगला कदम	... ...	,,
भूदान-आरोहन	... ...	नारायण देसाई
सम्पत्ति-दान-यज्ञ	... ...	श्रीकृष्णदास जाजू
भूदान दीपिका	... ...	विमला वहन ठकार
विनोबा का सन्देश	... ...	सुरेश रामभाई
'विनोबा एंड हिज मिशन' (अंगरेजी)		,, ,,
सर्वोदय का सिद्धान्त	... ...	नवजीवन प्रकाशन-मंदिर, अहमदाबाद
सामाजिक क्रान्ति के दस कार्यक्रम	...	जवाहरलाल जैन
आर्थिक क्रान्ति के आवश्यक कदम		,,
राजव्यवस्था, सर्वोदय दृष्टि से	...	भगवानदास केला
मानव संस्कृति	... ...	,,
भावी नागरिकों से	... ...	,,

भूदान यज्ञ, सर्वोदय, हरिजन सेवक, साम्ययोग, ग्रामराज, राजस्थान, आर्थिक समीक्षा, पाँचजन्य, अमृतपत्रिका, नयाहिन्द आदि पत्र-पत्रिकाएँ।

सर्वोदय ग्रन्थमाला

(१) सर्वोदय अर्थशास्त्र—संसार में सुख-शान्ति चाहने वाले राजनीतिज्ञों, अध्यापकों और पाठकों के लिए बहुत आवश्यक। ... ... ४)

(२) सर्वोदय अर्थ व्यवस्था—इसकी श्रेष्ठता का सुन्दर विवेचन। ... ... १॥)

(३) हमारा अर्थशास्त्र कैसा हो?—अर्थशास्त्र में सर्वोदय दृष्टिकोण रखने की आवश्यकता का विचार ।)

(४) सर्वोदय राज क्यों और कैसे?—अभी वास्तविक स्वराज नहीं हुआ। उसका विचार कीजिए। ॥=)

(५) मानव संस्कृति—संस्कृति क्या है, इसके विविध पहलू, इसका विकास, विविध देशों का इसमें योग। २॥)

(६) समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय—मानव प्रगति में पूँजीवाद आदि का भाग; और सर्वोदय की विशेषता। ... .. ॥।)

(७) मेरा जीवन, सर्वोदय की ओर—श्री भगवानदास केला के जीवन की झांकी। ... ।-)

(८) सर्वोदय; दैनिक जीवन में—खान पान, पहनावे, खेती, व्यापार और व्यवसाय में सर्वोदय। ।=)

(९) राज व्यवस्था, सर्वोदय दृष्टि से ... १॥)

(१०) आर्थिक क्रान्ति के आवश्यक कदम। ।≡)

(११) प्राकृतिक चिकित्सा ही क्यों?—औषधियों और डाक्टरों से बचिये। ... ।-)

(१२) मेरी सर्वोदय यात्रा—राजस्थान, मध्यभारत, पंजाब, बिहार आदि में श्री केला जी की यात्रा। ।=)

(१३) समाज-रचना, सर्वोदय दृष्टि से ... १॥)

([illegible]) भूदान, श्रमदान, जीवनदान ... १)